

Shree Nisargadatta Samadhi Charitable Trust, Mumbai

श्री निसर्गदत्त समाधी चॅरिटेबल ट्रस्ट, मुंबई द्वारा प्रकाशित त्रैमासिक

NISARGAVAANI

निसर्गवाणी નિર્સર્ગવાણી **निसर्गवाणी**

वर्ष २ रे अंक : ४ था (एप्रिल ते जून २०२६)

Year 2nd Issue 4th (April - June 2026)



Without the Full understanding of Oneself,
Both in Time and in Timelessness, Life is but
a Dream imposed on us by Powers we don't
know, for purposes we can't grasp.

-Maurice Frydman-

संपादक

डॉ. धीरज सर्वज्ञ : +91 9881314214

विजया नाझरे : +91 9403707936

स्मिता थोरात : +91 8698863395

तुषार नार्डक : +91 8369105437 / 982188356

मुखपृष्ठ रचना: भरतभाई शिंपी, जळगाव

लेआउट डिजाइन

झेन प्रकाशन, मुंबई (निसर्गवानी टीम इनपुट अनुसार)

वेबसाईट: www.nisargdattasamadhi.in

ईमेल: nisargadattasamadhitrust2025@gmail.com

लेखों के लिए अपील

चूँकि कोई भी पत्रिका संभावित लेखकों के लेखों पर निर्भर करती है, हम आप सभी से हमें लेख भेजने की अपील करते हैं। आत्मज्ञान सभी धर्मों, जाति और पंथ से परे है। इस पहलू को याद करते हुए निसर्गवाणी में न केवल श्री निसर्गदत्त महाराज द्वारा वर्णित आत्म-ज्ञान से संबंधित विषयों की एक विस्तृत श्रृंखला होगी, बल्कि विभिन्न संतों की आत्म-ज्ञान की शिक्षाएं, उनके तरीकों के अभ्यास से संबंधित अनुभव, जीवनी, शिक्षाएं, अन्य आध्यात्मिक गुरुओं द्वारा सिखाए गए तरीकों के अभ्यास से संबंधित अनुभव, हिंदू धर्म के अलावा अन्य धर्मों की शिक्षाएं और कहानियां, पवित्र ग्रंथों और छंदों की व्याख्या, आध्यात्मिक यात्रा और अंतर्दृष्टि, कविता और निश्चित रूप से हमारे योग्य पाठकों से प्रतिक्रिया भी शामिल होगी। हमारा दृढ़ विश्वास है कि आध्यात्मिकता का अपने आप में एक व्यापक और विविध आवरण पहलू है।

सुझाव

एक दिशानिर्देश के रूप में, हम अनुरोध करते हैं कि जहां तक संभव हो लेख छोटे (लगभग 750 शब्द) मध्यम (लगभग 1500 शब्द) या लंबे प्रारूप (लगभग 2300 शब्द) में होने चाहिए

कृपया अपना योगदान भेजें

through email to

nisargavaani240125@gmail.com

श्री निसर्गदत्त महाराज और जिह्वा कृष्णमूर्ति

पहली दृष्टि में ब्रह्म ज्ञानी (प्रबुद्ध) चिंतक निसर्गदत्त महाराज और जिह्वा कृष्णमूर्ति अपने बाहरी स्वरूप और अभिव्यक्ति की शैली में बिल्कुल अलग आध्यात्मिक क्षितिजों से उभरे हुए प्रतीत होते हैं। एक पवित्र परंपरा की धारा से उदित हुए, जबकि दूसरे सभी परंपराओं से मुक्त थे; एक अद्वैत के ऊष्मा और रूपांतरकारी प्रकाश से आलोकित, तो दूसरे ऐसे प्रखर प्रश्नों से जिज्ञासा को प्रज्वलित करने वाले, जो हर आध्यात्मिक संरचना को चुनौती देते हैं।

फिर भी, जब कोई उनकी शिक्षाओं के भीतर प्रत्यक्ष अनुभव के क्षेत्र में प्रवेश करता है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भले ही वे अलग-अलग पर्वत शिखरों पर खड़े हों, दोनों एक ही केंद्रीय सत्य की ओर संकेत कर रहे हैं। वह केंद्र है - **“चेतना का शुद्ध अवलोकन।”** यही वह अत्यंत गहन और सूक्ष्म सूत्र है जो उनकी शिक्षाओं को मौन रूप से एकता में पिरो देता है। अवलोकन कोई विधि या अभ्यास नहीं है; यह तो स्वयं मुक्ति का स्वभाव है। निसर्गदत्त महाराज की भाषा में यह साक्षीभाव के रूप में प्रकट होता है, जबकि कृष्णमूर्ति की अभिव्यक्ति में यह **चयनरहित जागरूकता (Choiceless Awareness)** के रूप में दिखाई देता है।

दोनों यह बात बिल्कुल स्पष्ट करते हैं कि ऐसा अवलोकन का क्षण सभी विधियों, तकनीकों और आध्यात्मिक प्रणालियों से परे होता है; यह अडिग उपस्थिति का क्षण है। उनकी शिक्षाओं के माध्यम से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुक्ति कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसे भविष्य में प्राप्त किया जाए, बल्कि यह जाग्रत बुद्धि की तत्काल अनुभूति है, जिसे यहीं और अभी जाना जा सकता है।

इन दोनों महात्माओं के बीच गहरी साम्यता विशेष रूप से इस बात में दिखाई देती है कि वे “मैं” की अवधारणा को किस प्रकार खोलकर समझाते हैं। कृष्णमूर्ति के अनुसार “मैं” मन की सुरक्षा पाने की प्रवृत्ति से उत्पन्न होता है - जो स्मृति और इच्छा के धागों से

बुना हुआ है। निसर्गदत्त महाराज के अनुसार यह एक ऐसा विचार है जो मूल, शब्दरहित अनुभूति “मैं हूँ” पर आधारित है। जब उस शुद्ध अस्तित्व को एक व्यक्ति समझ लिया जाता है, तब व्यक्तित्व का भ्रम उत्पन्न होता है। दोनों ही स्पष्ट रूप से बताते हैं कि अनुभव में होने की मूल अनुभूति - शुद्ध भाव “मैं हूँ” - अछूती और निर्मल रहती है।

फिर भी, जब यह सरल जागरूकता “मैं यह हूँ” या “मैं वह हूँ” जैसी धारणाओं में उलझ जाती है, तब दुख का बीज बोया जाता है। इस दृष्टिकोण से दोनों ही अहंकार की संरचना को दृढ़ता से विघटित करते हैं। वे पूरी तरह सहमत हैं कि यह विघटन किसी बाहरी प्रयास या थोपी गई अनुशासन से नहीं होता; यह केवल तब घटित होता है जब “स्व” की संरचना को स्पष्ट रूप से देखा जाता है।

उस स्पष्ट देखे जाने में ही “मैं” की संरचना अपनी नींव खोने लगती है - और जो इतना ठोस प्रतीत होता था, वह अपने आप ही ढह जाता है। इसलिए उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण का सार “करने” में नहीं, बल्कि “देखने” में है।

जब यह देखना वास्तविक रूप से घटित होता है - किसी विचार के रूप में नहीं, बल्कि एक जीवंत तथ्य के रूप में - तब मानसिक छवियों और अहंकार की पहचान की पकड़ ढीली पड़ने लगती है। और तब जो शेष रह जाता है, वह है **शुद्ध जागरूकता की अनंत व्यापकता!**

फिर भी, जब यह सरल जागरूकता “मैं यह हूँ” या “मैं वह हूँ” की धारणा में उलझ जाती है, तो दुख का बीज बोया जाता है। इस दृष्टिकोण से, दोनों अहंकार की संरचना को सख्ती से नष्ट कर देते हैं। वे इस बात से पूरी तरह सहमत हैं कि यह विघटन किसी बाहरी प्रयास या थोपे गए अनुशासन से नहीं होता है; यह तभी होता है जब “स्व” की संरचना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। धारणा की उस स्पष्टता में, “मैं” का निर्माण अपनी नींव खोना शुरू कर देता है - और जो इतना ठोस लगता था वह अपने आप ढह जाता है। इसलिए, उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण का सार “करना” नहीं, बल्कि देखना है। जब यह देखना वास्तविकता में घटित होता है - एक विचार के रूप में नहीं, बल्कि एक जीवित तथ्य के रूप में - मानसिक छवियों और अहंकारी पहचान की पकड़ ढीली होने लगती है। और जो शेष रह जाता है वह शुद्ध जागरूकता की ही विशालता है!

मन की प्रकृति के बारे में कृष्णमूर्ति की जांच की गहराई और तीक्ष्णता इतनी मर्मज्ञ है कि श्रोताओं को अक्सर ऐसा लगता है जैसे वह मनोवैज्ञानिक समझ का एक बिल्कुल नया क्षेत्र खोल रहे हैं - एक ऐसा परिदृश्य जहां मन की गति पूरी तरह से यांत्रिक प्रक्रिया के रूप में प्रकट होती है। निसर्गदत्त महाराज इस पूरी प्रक्रिया को उजागर करते हैं, फिर भी उनकी अभिव्यक्ति का स्वाद गहरा वेदान्तिक है। वह केवल मन की गति का विश्लेषण

नहीं करता; लेकिन वह साधक को चेतना के मूल स्रोत तक भी ले जाता है। उनके संवादों में, मन (मानस), बुद्धि, स्मृति-चेतना (चित्त), और अहंकार (अहंकार) की भूमिकाओं को उल्लेखनीय स्पष्टता के साथ समझाया गया है।

प्रत्येक को उसके उचित परिप्रेक्ष्य में रखा गया है - स्वयं के रूप में नहीं, बल्कि जागरूकता के भीतर प्रकट होने वाले उपकरणों के रूप में। जहां कृष्णमूर्ति एक सटीक ब्लेड की तरह पूछताछ करते हैं, वहीं निसर्गदत्त महाराज शुद्ध अस्तित्व की रोशनी - स्वयं की चमक से प्रकाशित करते हैं। फिर भी, दोनों गहरे सहमत हैं: मन गंतव्य नहीं है, बल्कि अवलोकन की जाने वाली वस्तु है। स्पष्ट अवलोकन के सरल कार्य में, मन की सीमाएँ स्पष्ट हो जाती हैं, और उसकी सीमाएँ प्रकट हो जाती हैं। इसी अवलोकन से मुक्ति का द्वार उनके शिष्यों के सामने प्रकट होने लगता है।

उनकी शिक्षाओं को जोड़ने वाला एक और महत्वपूर्ण सूत्र भय की जांच है। कृष्णमूर्ति ने डर की असाधारण सटीकता के साथ जांच की और खुलासा किया कि यह विचार से ही उत्पन्न होता है। यह भविष्य में प्रक्षेपित एक मानसिक छवि के रूप में उभरता है, जो स्मृति और प्रत्याशा द्वारा कायम रहती है। निसर्गदत्त महाराज की दृष्टि में, डर मूल रूप से इस पहचान में निहित है...”मैं शरीर हूँ।” यह धारणा कि जब शरीर नष्ट हो जाता है, तो “मैं” भी समाप्त हो जाता है - यही धारणा भय को जन्म देती है। लेकिन अगर कोई स्पष्ट रूप से देखता है कि “मैं शरीर नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, यहां तक कि विचार भी नहीं हूँ” - अगर कोई “मैं हूँ” की शुद्ध भावना का पालन करता है, स्वयं सरल होने के रूप में - तो डर अपना आधार खो देता है। यहां, दोनों शिक्षकों की अंतर्दृष्टि एक अद्भुत सामंजस्य में मिलती है।

भय मन की गति से उत्पन्न होता है - कल्पना और प्रक्षेपण से। जब इसकी जड़ स्पष्ट रूप से दिखाई देती है तो यह घुलने लगती है। दोनों इस बात पर जोर देते हैं कि भय को पलायन या दमन से नहीं जीता जा सकता। इसका सीधा सामना करना होगा. इससे दूर मत भागो. भय को देखने की क्रिया में ही - बिना प्रतिरोध के, बिना नाम लिए, बिना औचित्य के - उसकी आंतरिक गति उजागर होती है। और उस प्रकटीकरण में, स्वतंत्रता के द्वार अपने आप खुल जाते हैं।

प्रेम के बारे में उनकी समझ में भी गहरी और आश्चर्यजनक प्रतिध्वनि है। कृष्णमूर्ति के लिए प्रेम एक ऐसी अवस्था है जो स्थितियों, अपेक्षाओं और मनोवैज्ञानिक छवियों से पूरी तरह मुक्त है। फूलों से केवल वहीं प्रेम करो जहां “मैं” अनुपस्थित हो। निसर्गदत्त महाराज भी प्रेम को अद्वैत की अभिव्यक्ति मानते हैं - जहाँ कोई “अन्य” नहीं है। दोनों के लिए प्यार सिर्फ एक भावना नहीं है; यह चेतना की अवस्था है. यह लगाव, आवश्यकता या भावना से पैदा नहीं होता है, बल्कि तब उत्पन्न होता है जब “मैं” की

भावना विलीन होने लगती है। जब “मैं हूँ” का अनुभव शुद्ध हो जाता है - पहचान से मुक्त हो जाता है - “मैं” और “आप” के बीच का विभाजन मिट जाता है। उस गैर-विभाजन से, सार्वभौमिक प्रेम स्वाभाविक रूप से खुद को प्रकट करता है। इस प्रकार, उनकी भाषा में, प्रेम में भावनात्मक भोग का कोई निशान नहीं होता है। यह स्वयं होने के सत्य में निहित है - अवैयक्तिक, असीम और दीप्तिमान।

भाषाई दृष्टि से भी उनकी शिक्षाओं में सूक्ष्म सामंजस्य देखा जा सकता है। कृष्णमूर्ति की भाषा आधुनिक मनोविज्ञान और दार्शनिक जांच की शब्दावली से उभरती है, जबकि निसर्गदत्त महाराज ग्रामीण मराठी की सांसारिक सादगी में बोलते हैं, जो शास्त्रीय संस्कृत शब्दों और सूक्तियों(कहावत) की सटीकता से समृद्ध है।

फिर भी, अभिव्यक्ति में इस अंतर के बावजूद, दोनों भाषाओं का उद्देश्य एक ही है- श्रोता को मन से परे ले जाना। अवलोकन(observation) के माध्यम से, कृष्णमूर्ति शब्दों की शून्यता और छलपूर्ण प्रकृति की ओर इशारा करते हैं, जबकि निसर्गदत्त शब्दों की सीमाओं और अपूर्णता की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। दोनों इस बात पर ज़ोर देते हैं कि शब्द सत्य नहीं है; शब्द केवल एक संकेत है। जैसे उंगली से चंद्रमा की ओर इशारा किया जाता है, वैसे ही इसका उद्देश्य पूजा जाना नहीं, बल्कि ध्यान को स्वयं से परे ले जाना है। उनके संवादों में शब्दों का प्रयोग निश्चित रूप से होता है-फिर भी वे पारदर्शी बने रहते हैं। बात केवल अभिव्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहती; शब्दों के माध्यम से कुछ गहरा प्रकाश निकलता है- स्वयं आंतरिक चेतना का प्रकाश।

मूलतः दोनों की शिक्षाएं “अभी” अर्थात् इस पल के गहन महत्व पर आधारित हैं। कृष्णमूर्ति के लिए, “अभी” केवल समय का एक बिंदु नहीं है। बल्कि, यह एक विशाल आंतरिक स्थान है जो तब उत्पन्न होता है जब मन विचारों की निरंतर गति से मुक्त हो जाता है। निसर्गदत्त महाराज के लिए, “अभी” “मैं हूँ” का प्रत्यक्ष अनुभव है - एक ऐसी अवस्था जहाँ न अतीत है और न भविष्य, केवल अस्तित्व की शुद्ध उपस्थिति है। अस्तित्व की इस भावना में, अनुभव अपनी शुद्ध तात्कालिकता में विद्यमान होता है-स्मृति या कल्पना से अछूता। इस प्रकार, दोनों द्वारा वर्णित “अभी” में एक गहरा और सूक्ष्म सामंजस्य है। दोनों इस बात की पुष्टि करते हैं कि मुक्ति भविष्य में प्राप्त होने वाली घटना नहीं है; यह इसी क्षण में उपलब्ध है।

जब “अभी” को वास्तव में अनुभव करने की क्षमता गहराती है, तब मन की समय-बद्ध गतिविधियाँ शांत होने लगती हैं। उस निःशब्दता में चेतना का वास्तविक स्पर्श स्वयं प्रकट होता है।

निसर्गदत्त महाराज और जिदू कृष्णमूर्ति की शिक्षाओं में एक और खास समानता

सत्य के अप्रमाणिक स्वरूप के प्रति उनकी समझ में दिखाई देती है।

उनके अनुसार, सत्य को किसी शास्त्र द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता, न ही इसे परंपरा द्वारा स्थापित किया जा सकता है। यह बाहरी मान्यता या वंशानुगत विश्वास पर निर्भर नहीं करता। सत्य कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे किसी मानक के विरुद्ध परखा जाए या किसी प्रमाण से मापा जाए; यह वह चीज है जिसे जिया जाता है-बस अस्तित्व में रहना होता है। दोनों सिखाते हैं कि जिस सत्य को साधक खोजना चाहता है, वह कहीं दूर नहीं है; वह ठीक वहीं मौजूद है जहाँ साधक खड़ा है-उसकी अपनी चेतना के केंद्र में।

इस दृष्टिकोण से, दोनों ही पारंपरिक आध्यात्मिक विधियों से परे एक नई दिशा के पथ-प्रदर्शक हैं, जहाँ सत्य अनुभूति-आधारित, निरंतर प्रकट होने वाला और स्वभावतः अत्यंत व्यक्तिगत होता है।



रमण महर्षि के महासमाधि के पश्चात, आध्यात्मिक जगत को 'महर्षि की झलकियाँ' (Glimpses of Maharshi) के रूप में एक अमूल्य उपहार प्राप्त हुआ, जो मौरिस फ्राइडमैन (Maurice Frydman) द्वारा प्रस्तुत प्रश्नोत्तर संवादों का एक अद्भुत संकलन है।

मुंबई स्थित सद्गुरु निसर्गदत्त महाराज द्वारा प्रकट आत्मज्ञान का मार्ग लंबे समय तक न केवल भारत के बाहर के साधकों के लिए, बल्कि देश के भीतर के कई लोगों के लिए भी अज्ञात था।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक I Am That ('मैं वही हूँ') के माध्यम से, मौरिस फ्राइडमैन ने इन गहन शिक्षाओं को विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया और महाराज के संदेश को वैश्विक स्तर पर प्रसारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

9 मार्च 2026 को मौरिस फ्राइडमैन के देहांत के पचास वर्ष पूर्ण हो गये। इस अवसर पर, उनके अमूल्य योगदान की कृतज्ञ स्मृति में, 'निसर्गवाणी' का यह विशेष आवरण प्रिय भक्त श्री भरतभाई शिम्पी द्वारा तैयार किया गया है। सम्पूर्ण 'निसर्गवाणी' परिवार इस महान आत्मा, श्री मौरिस फ्राइडमैन को अपनी विनम्र और हृदयपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित करता है।



श्री निसर्गदत्त समाधी चॅरीटेबल ट्रस्ट

Nisargavaani

निसर्गवाणी

ନିସର୍ଗବାଣୀ

निसर्गबानी

वर्ष २२ अंक: ४ था

एप्रिल - जून २०२६

च य नि का



मौरिस फ्राइडमैन

एडिथ डेरी और निसर्गदत्त महाराज की कहानी

‘चेतना’ (जाणीव)– जीवन का स्थिर स्तम्भ

प्रस्तावना (पूर्वार्म्भ)

मैं हूँ। मैं हूँ है मेरा घर

आई कलावती का आशीर्वाद: एक साधक की यात्रा

स्वतंत्रता संग्राम सेनानी: इंचगेरी के संत माधवानंद प्रभुजी

मौरिस फ्राइडमैन

स्वयं निसर्गदत्त महाराज ने उस पुस्तक का शीर्षक चुना था जिसने उन्हें दुनिया भर में प्रसिद्धि दिलाई: 'आई एम दैट' (I Am That)। यद्यपि वे मराठी बोलते थे, लेकिन जब उनसे पूछा गया कि इस कृति को क्या शीर्षक दिया जाना चाहिए, तो उन्होंने तुरंत अंग्रेजी में उत्तर दिया: 'I Am That'। यह घटना 1973 की है। यह कहानी मेरे साथ श्री रमाकांत महाराज द्वारा साझा की गई थी।

'आई एम दैट' भक्तों, यात्रियों और साधकों द्वारा पूछे गए प्रश्नों तथा निसर्गदत्त महाराज द्वारा दिए गए उत्तरों का एक विस्तृत संकलन है। यह पुस्तक मौरिस फ्राइडमैन के प्रयासों से अस्तित्व में आई। निसर्गदत्त महाराज ने एक बार कहा था कि जैसे पॉल ब्रंटन (Paul Brunton) ने रमण महर्षि को खोजा था, उसी प्रकार मौरिस फ्राइडमैन ने उन्हें खोजा।

मौरिस फ्राइडमैन (Maurice Frydman) का जन्म 1901 में वारसॉ (Warsaw) में हुआ था। उस समय, नेपोलियन के युद्धों के बाद पोलैंड का एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में अस्तित्व समाप्त हो गया था और उसका क्षेत्र प्रशा (Prussia), रूस और ऑस्ट्रिया के बीच विभाजित था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद, वर्साय की संधि (Treaty of Versailles) के माध्यम से ही पोलिश राज्य का पुनर्जन्म हुआ। इस नवनिर्मित स्वतंत्र पोलैंड में, युवा मौरिस पेरिस के सोरबोन विश्वविद्यालय (University of La Sorbonne) में पढ़ने के लिए चले गए, जहाँ उन्होंने एक इंजीनियर के रूप में प्रशिक्षण प्राप्त किया।

कम आयु से ही उन्होंने जिस भी कार्य को अपनाया, उसमें स्वयं को पूर्ण रूप से समर्पित कर दिया-विशेषकर आध्यात्मिकता को, जो पच्चीस वर्ष की आयु में उनके जीवन का मुख्य केंद्र बन गई। एक यहूदी परिवार में जन्म लेने के कारण उन्होंने

ताल्मुद का अध्ययन किया; बाद में उन्होंने रूसी ऑर्थोडॉक्स चर्च का भी अन्वेषण किया और अंततः थियोसोफिकल सोसाइटी से जुड़ गए।

यहीं, 1926 में, उनकी मुलाकात जिदू कृष्णमूर्ति से हुई, जिनसे उनका जीवन भर घनिष्ठ संबंध बना रहा। भारत आने के बाद, वे रमण महर्षि के शिष्य बने और अनेक आध्यात्मिक गुरुओं से मिले, अंततः निसर्गदत्त महाराज से उनका साक्षात्कार हुआ। अपनी खोज में उन्होंने कभी समझौता नहीं किया: उन्होंने केवल सुनी-सुनाई बातों को स्वीकार करने से इंकार किया और सत्य को यथासंभव प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करने का प्रयास किया। दूसरों के धार्मिक जाल में उलझने के बजाय, इस साधना में ऐसा कोई प्रयास नहीं था जिसे करने के लिए वे तैयार न हों।

एक इंजीनियर के रूप में, उन्होंने दर्जनों पेटेंट विकसित किए और पेरिस के कपड़ा उद्योग (textile industry) में काम किया; बाद में, 1928 में, वे एक फ्रांसीसी पावर स्टेशन के निदेशक बने, जहाँ उनके जीवन की धारा हमेशा के लिए बदल गई। 1935 के एक दिन, मैसूर राज्य के एक मंत्री ने उस प्लांट का दौरा किया और फ्राइडमैन को **कर्नाटक राज्य** के विकास में मदद करने के लिए आमंत्रित किया। फ्राइडमैन ने मंत्री से कहा कि उनके बैग पहले से ही पैक थे।

इससे कुछ ही समय पहले, मॉरिस ने 1934 में प्रकाशित पॉल ब्रंटन (Paul Brunton) की पुस्तक ‘**ए सर्च इन सीक्रेट इंडिया**’ (A Search in Secret India) पढ़ी थी, जिसने उन्हें गहराई से मंत्रमुग्ध कर दिया था। ब्रंटन की इस कृति का चरमोत्कर्ष ‘लाल पर्वत’ अरुणाचल के ऋषि, **श्री रमन महर्षि** के साथ उनकी मुलाकात है।

ब्रिटिश शासन के अधीन, भारत ने प्रथम विश्व युद्ध में महत्वपूर्ण योगदान दिया था, जिसमें दस लाख से अधिक सैनिक भेजे गए थे, जिनमें से एक लाख से अधिक शहीद हुए। जैसे-जैसे स्थानीय रियासतों और शासकों ने अधिक स्वायत्तता की मांग की, यह स्पष्ट हो गया कि अंग्रेजों को राजनीतिक रियायतें देनी पड़ेंगी। इसके परिणामस्वरूप 1935 का भारत सरकार अधिनियम आया। हालाँकि यह कानून सत्ता की भागीदारी करता हुआ प्रतीत होता था, लेकिन इसने वास्तव में औपनिवेशिक यथास्थिति को ही बनाए रखा। मॉरिस फ्राइडमैन जल्द ही स्वयं गांधीजी के साथ राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के साक्षी और प्रतिभागी दोनों बनने वाले थे। देश के साथ उनके गहरे जुड़ाव के संबंध में, श्री रमन महर्षि ने उनके बारे में प्रसिद्ध टिप्पणी की थी: ‘वे केवल भारत के हैं। किसी तरह, उनका जन्म विदेश में हुआ, लेकिन वे यहाँ फिर से लौट आए हैं।’

वह अरुणाचल से लगभग दो सौ किलोमीटर दूर कार्य करते थे-वही पर्वत जहाँ रमन महर्षि निवास करते थे-और उन्हें जब भी अवसर मिलता, वहाँ जाते थे। उन्होंने संन्यास ग्रहण किया और संन्यासी वस्त्र धारण किए, यद्यपि श्री रामण महर्षि ने उन्हें ऐसा करने से मना किया था। उन्हें 'भारतानंद' नाम दिया गया, जिसका उपयोग उन्होंने बाद में अपने आध्यात्मिक लेखन में किया। कुछ लोगों के अनुसार यह नाम महात्मा गांधीजी ने दिया था, जबकि अन्य का मानना यह नाम रामदास ने दिया था। जैसे गांधीजी श्वेत वस्त्र पहनते थे और रामदास गेरुआ धारण करते थे, वैसे ही फ्राइडमैन ने भी उनका अनुसरण किया-जब तक कि ऐसे बाहरी प्रतीकों का उनके लिए कोई महत्व नहीं रह गया।

बैंगलोर में एक औद्योगिक संयंत्र के निदेशक के रूप में कार्य करते हुए, मॉरिस फ्राइडमैन अपने संन्यासी वस्त्र पहनना जारी रखे। इससे मैसूर राज्य के मंत्री के साथ एक टकराव उत्पन्न हुआ, क्योंकि वे ऐसे वस्त्रों में सजे निदेशक को आधिकारिक अतिथियों के सामने प्रस्तुत करने में असहज महसूस करते थे।

अंततः, वे पास ही स्थित छोटे से औंध राज्य चले गए-जो बाद में महाराष्ट्र राज्य में सम्मिलित हो गया। वहीं उनकी मुलाकात श्री अपा पंत से हुई, जो एक राजकुमार थे और आगे चलकर एक प्रतिष्ठित राजनयिक बने।

लगभग 1938 के आसपास उनकी मुलाकात महात्मा गांधी जी से हुई, और उन्होंने मिलकर स्व-शासन के एक प्रयोगात्मक कार्यक्रम में भाग लिया। इस सहयोग के परिणामस्वरूप, उन्होंने ब्रिटिश शासन के भीतर स्थित एक अद्वितीय क्षेत्र-स्वतंत्र औंध राज्य के लिए संविधान का मसौदा तैयार किया। इसके अतिरिक्त, कुछ समय के लिए मॉरिस फ्राइडमैन ने इस नए राज्य के दीवान, अर्थात् प्रधानमंत्री, के रूप में भी सेवा की।

गांधीजी फ्राइडमैन के जीवन के अधिक राजनीतिक चरण का प्रतिनिधित्व करते हैं। आधुनिक भारत के राष्ट्रपिता के आदर्शों को अपनाते हुए, उन्होंने देश के सामाजिक विकास के लिए अथक परिश्रम किया। गांधीजी की अपने चरखे के साथ एक प्रसिद्ध तस्वीर है; यह मॉरिस फ्राइडमैन ही थे जिन्होंने उनके लिए इसे बनाया था। गांधीजी के अनुरोध पर, उन्होंने ऐसे चरखे विकसित किए जो पिछले मॉडलों की तुलना में तीन गुना तेजी से चलते थे। इस प्रकार, एक शक्तिशाली राष्ट्रीय प्रतीक को शाब्दिक रूप से एक पोलिश इंजीनियर के हाथों ने परिष्कृत किया था।

भारत को 1947 में स्वतंत्रता मिली और इसके पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल

नेहरू-जिनका गांधीजी से घनिष्ठ संबंध 1931 से था-फ्राइडमैन को अच्छी तरह जानते थे। तिब्बत पर चीनी कब्जे के भीषण संकट के दौरान दोनों ने मिलकर निर्णायक भूमिका निभाई। 1959 में, जब माओत्से तुंग की सेनाओं ने तिब्बत पर आक्रमण किया और वहां की आबादी में आतंक फैलाया, तब नेहरू चीन के साथ सीधे टकराव के डर से हिचकिचा रहे थे। मॉरिस फ्राइडमैन ने ही उन्हें तिब्बती लोगों को शरण देने के लिए दृढ़तापूर्वक प्रेरित किया। फ्राइडमैन ने इस लासदी का पहले ही अनुमान लगा लिया था और आक्रमण से पहले ही पवित्र तिब्बती ग्रंथों को भारत लाकर उनके संरक्षण की व्यवस्था की थी। बाद में, उन्होंने दलाई लामा की भारत तक सुरक्षित यात्रा सुनिश्चित करने और उसी वर्ष 24 अप्रैल को नेहरू से उनकी मुलाकात कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अपा पंत के साथ मिलकर, फ्राइडमैन ने शरणार्थियों के लिए कई बस्तियों की व्यवस्था की, जिनमें सबसे प्रमुख पूर्व ब्रिटिश पहाड़ी शहर धर्मशाला है, जो आज भी दलाई लामा का निवास स्थान है। भारत में तिब्बती समुदाय की पचासवीं वर्षगांठ पर, दलाई लामा ने फ्राइडमैन के अथक कार्य - विशेष रूप से बच्चों के लिए - को 'नैतिक और व्यावहारिक' दोनों बताते हुए अपनी गहरी कृतज्ञता व्यक्त की।

1960 के दशक की शुरुआत में, खादी आंदोलन-जो भारत की राष्ट्रीय स्वतंत्रता का एक केंद्रीय हिस्सा था-बॉम्बे में पूरी तरह अव्यवस्थित स्थिति में था। यह जानते हुए कि मॉरिस एक ऐसे व्यक्ति थे जो सबसे अव्यवस्थित परिस्थितियों में भी व्यवस्था ला सकते थे, उनके मित्र नेहरू ने उनसे इस आंदोलन की जिम्मेदारी संभालने का अनुरोध किया। यह लगभग 1963 के आसपास की बात रही होगी। शहर में उनकी एक पुरानी मित्र और भक्त, मिस पेटिट रहती थीं, जो अपने अंतिम दिनों तक उन्हें अपने घर में ठहराती रहीं। हिला पेटिट (कुछ स्रोतों में हिरुबाई के नाम से जानी जाती हैं) को उच्च शिक्षा प्राप्त हुई थी-जो उस समय महिलाओं को अक्सर नहीं मिलती थी-और यह अवसर उन्हें मॉरिस के सहयोग से मिला था। अपनी दत्तक पुत्री भुलाल के साथ, उन्होंने मॉरिस और आपा पंत के साथ हिमालय की कठिन यात्राओं में भाग लिया, जहाँ वे तिब्बती शरणार्थियों के लिए बसावट के स्थान खोज रहे थे।

1964 में नेहरू का निधन हो गया। पैंसठ वर्ष की आयु में भी मॉरिस फ्राइडमैन के पास अभी बहुत कुछ हासिल करना बाकी था।

लगभग 1965 के आसपास, श्री जे. कृष्णमूर्ति भी बॉम्बे में आये थे और अपनी एक पुस्तक के प्रकाशन की तैयारी कर रहे थे। प्रकाशक चेतना पब्लिकेशन्स था,

जिसका नेतृत्व श्री सुधाकर दीक्षित कर रहे थे। उन्होंने मॉरिस को संपादन प्रक्रिया में सहयोग करने के लिए आमंत्रित किया।

छाया आर्या के अनुसार, जो श्री दीक्षित की पुत्री हैं, इन दोनों व्यक्तियों का परिचय श्री आपा पंत ने कराया था। चूँकि श्री दीक्षित मराठी भाषा में धाराप्रवाह नहीं थे, इसलिए मॉरिस उनके दुभाषिण के रूप में कार्य करते थे।

श्री सुधाकर दीक्षित एक प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी थे-वे भारतीय संस्कृति और वेदांत दर्शन के प्रबल समर्थक थे। वे स्वयं भी एक विद्वान थे, उनके पास एक विशाल पुस्तकालय था और वे उसके विषयों का गहराई से अध्ययन करते थे।

एक दिन, श्री दीक्षित ने मॉरिस से कहा कि वे उन्हें एक संत से मिलवाने जा रहे हैं। खेतवाड़ी लेन का आश्रम तब तक लगभग बीस वर्षों से स्थापित था। मॉरिस ने बाद में उस पहली मुलाकात का वर्णन श्री गणेशन (रमण महर्षि के भतीजे के पुत्र) से बॉम्बे की सड़कों पर साथ चलते समय किया। गणेशन ने इस कथा को नोट किया, और उन्हीं के माध्यम से यह हमारे तक पहुँची:

“मैंने कुछ लोगों के एक समूह को बीड़ी पीते हुए और अपनी परेशानियों का जिक्र करते हुए देखा। वह सरल व्यक्ति ठीक उसी तरह उत्तर दे रहा था जैसे रामण महर्षि देते। यदि रामण मराठी में बोलते, तो वही बात होती! मैं वहीं ठिठक गया और ध्यान से सुनने लगा। मुझे आश्चर्य हुआ कि एक साधारण व्यक्ति, जो बीड़ी बेचता है, इतनी गहरी अधिकारपूर्ण बातें कर रहा था।

महाराज पूरी तरह बनावटीपन से मुक्त हैं और उन्होंने अपने चारों ओर किसी प्रकार की औपचारिकता की दीवार नहीं बनाई है। वे एक विनम्र व्यक्ति हैं, जो साधारण लोगों को एक सरल तरीके से सत्य (वास्तविकता) को खोजने का मार्ग सिखाते हैं। वे कोई बड़ा आश्रम नहीं चलाते और न ही किसी प्रकार का दान चाहते हैं। वे महाराष्ट्र के संतों की परंपरा से जुड़े हैं- ऐसे गृहस्थ और कर्मशील लोग जो ईमानदार, सच्चे मित्र और बुद्धिमान सलाहकार होते हैं। वे अपने परिवार के साथ एक संकरी गली में स्थित साधारण से घर में रहते हैं और सादा जीवन जीते हैं। उनके घर में जो एक चीज़ विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती है, वह है उनके गुरु की भव्य तस्वीर, जिसकी वे प्रतिदिन कुछ शिष्यों के साथ पूजा करते हैं।”

जीन डन बताती हैं कि मॉरिस फ्राइडमैन ने अपने महान गुरु का वर्णन इस प्रकार किया:

“वे दयालु, संवेदनशील और गहरी हास्य-भावना वाले थे। वे पूरी तरह निडर

और अत्यंत प्रामाणिक थे- जो उनके पास आते थे, उन सभी के लिए वे एक प्रेरणा, मार्गदर्शक और सहारा थे।”

मैं हर दिन आश्रम जाने लगा और वे जो कहते थे, उसे नोट करने लगा। बाद में मैं घर लौटकर सभी प्रश्नों और उत्तरों का अंग्रेज़ी में अनुवाद करता था। मॉरिस को इस बात का अपराधबोध था कि उन्होंने अपने इस कार्य के लिए अनुमति नहीं ली थी; लेकिन जब उन्होंने अंततः निसर्गदत्त को इसके बारे में बताया, तो गुरु बहुत प्रसन्न हुए: “जारी रखो, रिकॉर्डिंग करते रहो,” उन्होंने उन्हें प्रोत्साहित किया। वे रिकॉर्डिंग और अनुवाद अंततः I Am That नामक पुस्तक में समाहित हो गए।

पुस्तक की तैयारी के दौरान, मॉरिस ने निसर्गदत्त द्वारा प्रयुक्त सबसे जटिल वाक्यांशों को समझने के लिए श्रीमती पेटिट से सहायता ली। उन्होंने श्री अरविंद काजी के सहयोग पर भी भरोसा किया, जो याद करते हैं: “1970 में, मॉरिस फ्राइडमैन एक म्यूनिसिपल कमीशन के मानद सलाहकार के रूप में कार्य कर रहे थे।” इस अवधि के दौरान, उनका पेशेवर कार्य और महाराज की शिक्षाओं का अनुवाद अक्सर एक-दूसरे से जुड़ जाते थे।

श्री अरविंद ने निसर्गदत्त के पास जाना शुरू किया क्योंकि मॉरिस की आदत थी कि वे अपने परिचितों को साथ लेकर जाते थे। शाम लगभग छह बजे, अरविंद नेपियन सी रोड स्थित कटगारा बिल्डिंग में मॉरिस के घर जाते, जहाँ वे दोनों साथ मिलकर वार्तालापों की रिकॉर्डिंग सुनते थे। इसके बाद वे अनुवादित पाठ को पढ़ते और हर बिंदु पर विस्तार से चर्चा करते ताकि पूर्ण सटीकता सुनिश्चित हो सके। 1970 के शुरुआती वर्षों तक, जब पांडुलिपि लगभग पूरी हो गई, मॉरिस ने इसे प्रकाशन के लिए श्री दीक्षित को प्रस्तुत किया।

“आई एम दैट” का पहला संस्करण 1973 में प्रकाशित हुआ और इसने आध्यात्मिक जगत में एक तरह की हलचल मचा दी।

छाया आर्य के अनुसार, “आई एम दैट चेतना का भारतीय समाज और संस्कृति के लिए सबसे बड़ा योगदान है-यह ज्ञान योग और वेदांत दर्शन की एक गहन और स्पष्ट प्रस्तुति है। इसने न केवल भारत में बल्कि पूरी दुनिया में लोगों के जीवन को सदा के लिए बदल दिया है, और अपने पहले प्रकाशन के पाँच दशकों से अधिक समय बाद भी ऐसा करना जारी रखा है।”

यह पुस्तक पश्चिम में इतनी प्रसिद्ध कैसे हुई? यह श्री गणेशन थे जिन्होंने जीन डन(जो उस समय रामणाश्रम में रहने वाली एक अमेरिकी पत्रकार और लेखिका थीं)

को “आई एम दैट” पढ़ने का सुझाव दिया। यद्यपि शुरू में वह अनिच्छुक थीं, लेकिन अंततः उन्होंने इसे पढ़ा और शीघ्र ही निसर्गदत्त से व्यक्तिगत रूप से मिलने के लिए बॉम्बे की यात्रा की। उन्होंने “द माउंटेन पाथ”, जो रमणाश्रम द्वारा प्रकाशित पत्रिका है, के लिए एक उत्कृष्ट लेख लिखा। चूँकि यह पत्रिका विश्वभर में वितरित होती थी, इसलिए यह खबर तेजी से फैल गई। लगभग रातों-रात, खेतवाड़ी लेन का छोटा-सा आश्रम विदेशियों से भरने लगा, जो इस पुस्तक को पढ़कर उस व्यक्ति से मिलने के लिए अपना सामान बाँधकर आने लगे, जो आगे चलकर उनके गुरु बने।”

1976 में, मॉरिस फ्राइडमैन एक वाहन (या तो मोटरसाइकिल या तिपहिया वाहन) से टकरा गए थे। बिस्तर पर पड़े होने और अपनी देखभाल करने में असमर्थ होने के कारण, उन्होंने पाया कि श्रीमती पेटिट (Mrs. Petite), जो उनसे भी अधिक उम्र की थीं, उन्हें आवश्यक सहायता प्रदान नहीं कर पा रही थीं। फिर भी श्री रमण महर्षि-जिनका 1950 में देहांत हो गया था-अभी भी अपने भक्त की देखभाल कर रहे थे।

एक नर्स, जो अपनी सेवाओं के लिए मोटी फीस लेने की आदी थी, ने एक जीवंत सपना देखा जिसमें एक साधु ने उससे स्पष्ट रूप से कहा: ‘मेरा भक्त कष्ट में है। जाओ और उसकी देखभाल करो।’ उन्होंने सटीक पता भी बताया। जब नर्स वहाँ पहुँची और अपनी मदद की पेशकश की, तो सादगी पसंद मॉरिस ने शुरू में मना कर दिया। अपमानित महसूस कर जब वह जाने ही वाली थी, तो अचानक उसकी नज़र दीवार पर लगी रमण महर्षि की तस्वीर पर पड़ी। वह चिल्ला उठी, ‘यही वह साधु हैं जिन्हें मैंने अपने सपने में देखा था!’ इससे गहराई से द्रवित होकर मॉरिस ने उत्तर दिया: ‘तो, मेरे गुरु मेरी देखभाल करने आए हैं।’

श्री अपा पंत, जो मॉरिस को अपना गुरु मानते थे, 1975 में निसर्गदत्त महाराज से मिले थे और अपने मित्र के अंतिम दिनों में उनके साथ रहे। उन्हें एक तत्काल संदेश मिला: ‘ऋषि (सज) मृत्यु के करीब हैं और उन्होंने तुम्हें, अपा, बुलाया है। जितनी जल्दी हो सके आ जाओ।’ जब वे पहुँचे, तो उन्होंने मॉरिस को एक ऐसे कमरे में लेटा हुआ पाया, जो-वहाँ की हर वस्तु के साथ-बेहद साफ और व्यवस्थित था।

डॉक्टर, नर्स और श्रीमती पेटिट ने उन्हें बताया कि मॉरिस भोजन और दवा दोनों से इनकार कर रहे थे और उनकी सभी प्रार्थनाओं को अनसुना कर रहे थे; वे अच्छी तरह जानते थे कि एक बार जब वे निर्णय ले लेते थे, तो कोई उन्हें हिला नहीं सकता था। जैसे ही अपा पंत बिस्तर के पास पहुँचे, मॉरिस ने उनकी ओर देखा और पूछा: ‘अपा, कौन मर रहा है?’

अगले दिन, मॉरिस ने अपा पंत के अलावा सबको बाहर जाने के लिए कहा। फिर उन्होंने कहा: ‘अपा, मुझे संगीत सुनाई दे रहा है; मुझे एक उज्ज्वल प्रकाश दिख रहा है। कौन मर रहा है? कोई नहीं मर रहा है। यह बीमार शरीर ही एकमाल बाधा है जो मुझे उस सामंजस्यपूर्ण सुंदरता से दूर रख रहा है। उन्हें मुझे इस शरीर में रोक कर मत रखने देना। शांति से जाओ।’

अगले दिन, जब उन्होंने अपनी अंतिम सांसें लीं-तीन धीमी सांसें: ‘हरि ओम... हरि ओम... हरि ओम’-तब सब वहीं एकल थे, और फिर वे चले गए। वह 9 मार्च, 1976 का दिन था।

कुछ घंटों बाद, निसर्गदत्त महाराज की उपस्थिति में मॉरिस फ्राइडमैन के पार्थिव शरीर का दाह संस्कार किया गया। निसर्गदत्त की दृष्टि में, ‘मॉरिस एक ज्ञानी, एक संत और एक ऋषि थे।’ दाह संस्कार के बाद, महाराज ने अपने आश्रम में अन्य भारतीय संतों की तस्वीरों के साथ मॉरिस की तस्वीर भी लगा दी।

देवत्व प्राप्ति

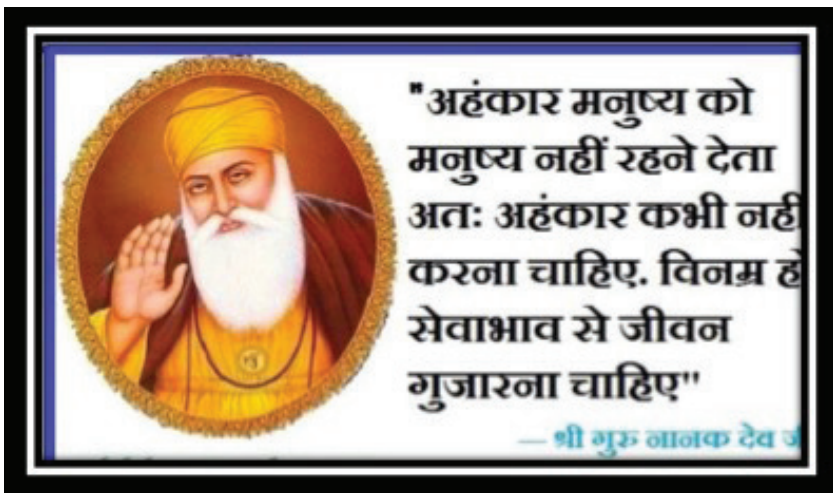
मॉरिस फ्राइडमैन के बारे में अभी बहुत कुछ कहा जाना बाकी है, और हमेशा कुछ न कुछ कहने के लिए रहेगा, यहाँ तक कि ऐसे विवरण भी जो विरोधाभासी प्रतीत हों- क्योंकि उन्होंने अपने पीछे स्वयं का कोई लिखित अभिलेख नहीं छोड़ा। वे स्पष्टता, करुणा, विनम्रता और अपार उदारता के धनी व्यक्ति थे। उन्होंने जितना संभव हो सका, लोगों की सहायता की-वंचित महिलाओं की शिक्षा को बढ़ावा दिया, मृत्युदंड के खिलाफ अभियान चलाया, और जेल में बंद लोगों की जीवन-स्थितियों को सुधारने का प्रयास किया। वे पंद्रह भाषाएँ बोलते थे, जिनमें कई भारतीय बोलियाँ और धाराप्रवाह मराठी शामिल थी, जिसने उन्हें निसर्गदत्त के वचनों का अंग्रेज़ी में अनुवाद करने में सक्षम बनाया। उनकी बुद्धिमत्ता, भाषाई दक्षता और दृढ़ संकल्प ही वे साधन थे, जिन्होंने उनके असाधारण जीवन को संभव बनाया।

मॉरिस फ्राइडमैन के कारण ही निसर्गदत्त की वाणी पश्चिम तक पहुँची। उनकी अथक दृढ़ता, भाषाई सटीकता और गहरी आध्यात्मिक समझ के बिना, ‘बॉम्बे के तंबाकू विक्रेता’ की शिक्षाएँ शायद एक छिपा हुआ खजाना ही बनी रहतीं, जिसे केवल कुछ ही लोग जानते।

यह जीवनी उन सभी के लिए एक पवित्र समर्पण है, जिन्होंने मॉरिस फ्राइडमैन

और निसर्गदत्त महाराज को जाना, और उन लोगों के लिए भी जो आज भी उनके प्रकाश में जीवन जी रहे हैं।

– अंटोनियो प्लाना (Antonio Plana)



एडिथ डेरी और निसर्गदत्त महाराज की कहानी

एडिथ डेरी पेरिस के एक प्रतिष्ठित बैंक में अकाउंटेंट थीं। हर वर्ष वह अपनी साल भर की सारी छुट्टियाँ श्री रमणाश्रम में बिताती थीं। वह बॉम्बे उतरतीं, मद्रास की उड़ान पकड़तीं, टैक्सी लेकर बिना कहीं रुके सीधे हमारे आश्रम पहुँच जातीं। श्री भगवान और उनकी शिक्षाओं के प्रति उनकी निष्ठा इतनी गहरी थी। मुझे उनसे बहुत स्नेह हो गया था और मैं उन्हें अपनी 'फ्रेंच माँ' कहकर पुकारता था! वह भी मुझे 'बेटा' कहकर संबोधित करती थीं।

जब उन्होंने 'द माउंटेन पाथ' में मेरे निसर्गदत्त महाराज के साथ हुए अनुभवों के बारे में पढ़ा, तो वह बहुत नाराज़ हो गई। अपनी अगली यात्रा में उन्होंने मुझे डाँटते हुए कहा कि मैं अरुणाचल से दूर बॉम्बे जाकर किसी दूसरे गुरु के साथ समय क्यों बर्बाद कर रहा हूँ। उन्होंने मुझसे पूछा, "श्री भगवान की शिक्षाओं में ऐसी क्या कमी है कि तुम्हें उस दूसरे गुरु की मदद की ज़रूरत पड़ी?" उनका व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली था।

मुझे स्पष्ट था कि मेरे किसी भी मौखिक स्पष्टीकरण से वह संतुष्ट नहीं होंगी। इसलिए मैंने उनसे कहा, "माँ! आपको स्वयं महाराज के पास जाना होगा, तभी आप समझ पाएँगी कि मैं वहाँ क्यों जाता हूँ। अगली बार जब आप आएँ, तो बॉम्बे में एक दिन रुककर उनसे मिलिए और स्वयं देखिए!" वह मान गई।

अगले वर्ष, आश्रम में प्रातःकालीन पूजा के दौरान जब दूध का अर्पण हो रहा था, मैंने अपनी पीठ पर स्नेहभरी थपकी का स्पर्श महसूस किया। वह मेरी फ्रेंच माँ थीं! वह

अत्यंत प्रसन्न दिखाई दे रही थीं। उन्होंने मुझे जल्दी से बाहर ले जाकर बड़े आनंद के साथ यह घटना सुनाई:

“जैसा तुमने कहा था, मेरे प्रिय ‘बेटे’, मैं बॉम्बे में एक दिन रुकी और महाराज से मिलने गई। मैं भीतर ही भीतर गुस्से से भरी हुई थी। मैं उन्हें यह बताने गई थी कि उन्होंने मेरे ‘बेटे’ को मेरे श्री भगवान से दूर क्यों कर दिया!

मैं सुबह दस बजे महाराज के घर पहुँची। जब मैं सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर गई, तो वहाँ पहले से ही काफी भीड़ जमा थी। इसलिए मैं सीढ़ियों के आखिरी पायदान पर ही बैठ गई।

महाराज ने मुस्कुराकर और सिर हिलाकर मेरा स्वागत किया। इससे मेरा गुस्सा और बढ़ गया। मैंने खुद को नियंत्रित किया और चुप रही।

महाराज ने मुझसे कहा, “कोई प्रश्न पूछो।” मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। उन्होंने कई बार आग्रह किया कि मैं उनसे कुछ पूछूँ। मैं बेचैन हो गई और गुस्से में बोल पड़ी, “मुझे आपसे कुछ नहीं पूछना है। मेरे मन में कोई संदेह नहीं है।” महाराज फिर भी आग्रह करते रहे।

मैं सचमुच बहुत गुस्सा हो गई और कहा:

“आप क्यों बार-बार मुझसे प्रश्न पूछने के लिए कह रहे हैं? क्या आप अपने श्रोताओं के सामने अपनी महानता दिखाना चाहते हैं? यानी मैं प्रश्न पूछूँ और आप उसका उत्तर देकर मेरे संदेहों को तोड़ दें, और पूरी सभा आपकी प्रशंसा करे-क्या यही कारण है कि आप मुझसे प्रश्न पूछने पर जोर दे रहे हैं?”

मैं निश्चित रूप से रूखी थी, लेकिन मैं अपनी झुंझलाहट छिपा नहीं सकी। मुझे वह सब उन पर निकालना ही था।

“महाराज पूरे समय अपनी कृपालु दृष्टि मुझ पर टिकाए हुए थे, उनके चेहरे पर दिव्य मुस्कान थी। मेरे क्रोध और असहिष्णुता से वे बिल्कुल अप्रभावित रहे। कुछ मिनटों तक मुझे गहराई से देखने के बाद उन्होंने बोलना शुरू किया, और उनके शब्द मानो झरने की तरह बहने लगे:

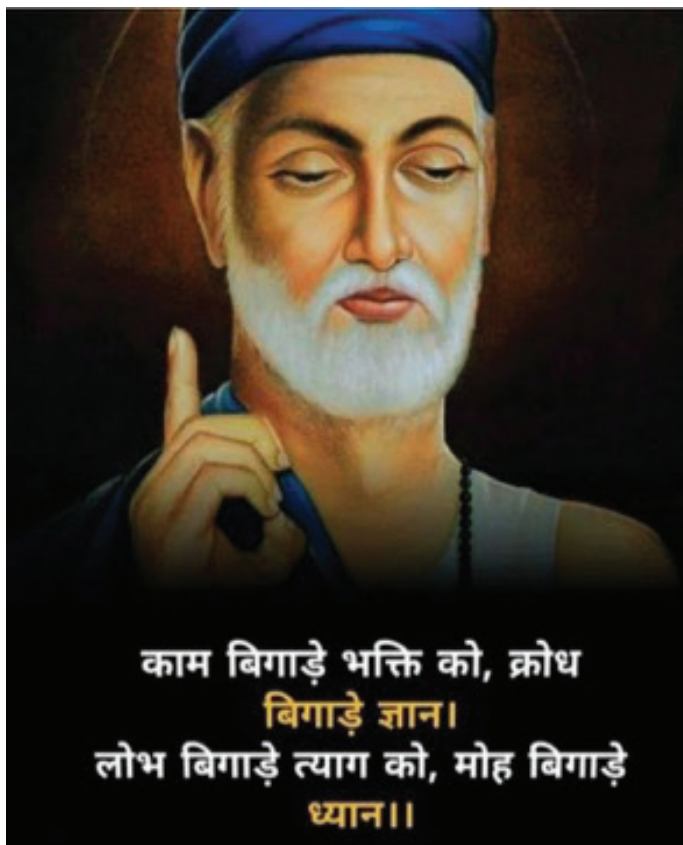
“पानी कभी इस बात की चिंता नहीं करता कि किसी व्यक्ति की प्यास बुझी या नहीं!” महाराज ने इसे धीरे-धीरे, लेकिन जोर देकर दो-तीन बार दोहराया: “पानी कभी इस बात की चिंता नहीं करता कि किसी व्यक्ति की प्यास बुझी या नहीं!”

मेरे भीतर कुछ अद्भुत घटित हुआ! मेरा सारा क्रोध, निराशा और चिड़चिड़ापन समाप्त हो गया, और उनकी जगह शांति, मौन और आनंद का एक सागर उमड़ पड़ा।

इस अनुभव ने मुझे मेरे मन की सीमाओं से परे जाने में मदद की, और मैं अत्यंत प्रसन्न हो गई।

मैं बहुत खुश हूँ कि मैं उनसे मिली। धन्यवाद, मेरे 'बेटे'! महाराज वास्तव में एक महान संत हैं!”

– ऋषियों और संतों से मुलाकातें
(Lighthouses Guiding Seeker's Journey Within)
by वी गणेशन (अनुवाद: अंटोनिओ प्लाना)



‘चेतना’ (जाणीव)

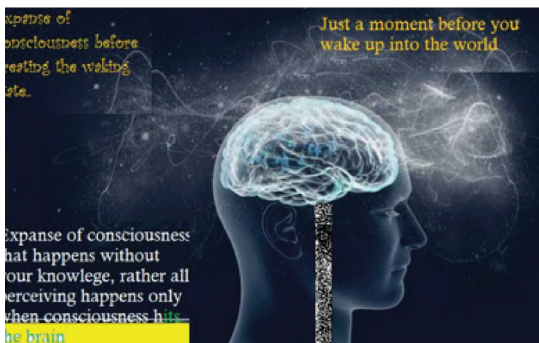
– जीवन का स्थिर स्तम्भ

मेँ

साथ श्री निसर्गदत्त महाराज की शिक्षाएँ बाँट रहा था। हम 'चेतना' के विषय पर चर्चा कर रहे थे, विशेष रूप से सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म के बारे में। चूँकि संस्कृत शब्द मेरे अमेरिकी मित्र के लिए थोड़े कठिन थे, इसलिए हमने सगुण ब्रह्म (अर्थात् 'मैं हूँ' या 'मैं' का विचार) को छोटे 'c' के रूप में समझाया। यही छोटी चेतना है, जो हमारी इंद्रियों की जानकारी के बिना ही गतिशील रहती है। हमने निर्गुण ब्रह्म को बड़े 'C' के रूप में निरूपित किया, क्योंकि वही अचल, स्थिर आत्मा है।

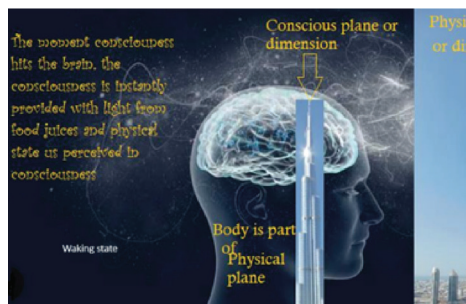
चेतना अत्यंत सूक्ष्म ज्ञान है और इसे समझना कठिन है। अधिकांश लोग भौतिक संसार में उलझे रहते हैं और द्वैत तथा अनेकता में खो जाते हैं। यह जीवनदायी ज्ञान है कि यदि हमारी चेतना (छोटा 'c') का उदय न हो, तो भौतिक संसार का अनुभव ही नहीं हो सकता।

यदि हमारे भीतर चेतना उपस्थित न हो, तो संसार अप्रत्याक्षित रह जाता है। छोटा 'ट' या 'मैं हूँ' (I AM) उस पूर्व-शर्त की तरह है, जिसके बिना भौतिक संसार का



अस्तित्व हमारे लिए संभव नहीं होता ।

नींद से जागृत अवस्था के इस चित्र में आप देख सकते हैं कि संसार का अनुभव केवल तभी संभव होता है, जब सूक्ष्म चेतना का उदय होता है और जागृत अवस्था का निर्माण करती है। छोटा 'c' प्रकाश के साथ प्रकट होता है और संसार छवियों, ध्वनियों, संवेदनाओं आदि के रूप में प्रतिबिंबित होता है। जब 'c' उदित होता है, तो स्मृति संभवतः पिछली रात के अंतिम विचारों को सामने लाती है, और फिर विचारों की एक श्रृंखला चल पड़ती है-जिसमें हम खो जाते हैं।



नींद की स्वप्न अवस्था के इस चित्र में, चेतना (c) अचानक प्रकाश और स्मृतियों की छापों से भर जाती है, जो एक चलचित्र की तरह गति उत्पन्न करती हैं। ऐसा लगता है मानो हम कोई फिल्म देख रहे हों, और ऐसा अनुभव होता है जैसे हमारे पास एक सूक्ष्म स्वप्न-शरीर हो।



अब तर्क के लिए हम स्वप्न और जागृत अवस्थाओं की तुलना कर सकते हैं और निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि चेतना (c) दोनों मानसिक अवस्थाओं में एक समान, स्थिर तत्व है।

जागृत अवस्था में, हमारा मन भौतिक संसार-जिसमें हमारा शरीर भी शामिल

है-को चेतना (c) में प्रतिबिंबित करता है, और इन जागृत अवस्थाओं के बीच स्मृति की निरंतरता बनी रहती है। स्वप्न अवस्था में, भौतिक संसार और शरीर का अनुभव नहीं होता; बल्कि चेतना स्वयं एक स्वप्न जगत और स्वप्न देखने वाले को प्रक्षेपित करती है। हालांकि, विभिन्न स्वप्न अवस्थाओं के बीच स्मृति की निरंतरता नहीं होती।

चेतना और उसका प्रकाश ही अनुभव (perceiving) के होने का सामान्य आधार है। वास्तव में, अनुभव करना (perceiving) हमारी शुद्ध अवस्था है, जबकि अनुभव करने वाला (perceiver) और अनुभव की वस्तुएँ (perceptions) कल्पित सत्ता हैं।

‘मैं हूँ’ (I AM) या छोटा ‘c’ दोनों-जागृत और स्वप्न-अवस्थाओं के लिए आवश्यक है। महाराज की शिक्षाओं के अनुसार, साधकों के लिए यह आवश्यक है कि वे निरंतर इस ज्ञान पर मनन करें और ‘मैं हूँ’ में स्थित रहें, ताकि वे शरीर की पहचान (देह-अहं) से मुक्त हो सकें।

परम आत्मा या निर्गुण ब्रह्म, जिसे बड़े ‘C’ के रूप में समझाया गया है, एक अतीत (transcendent) सिद्धांत के रूप में विद्यमान है और यह इन मानसिक अवस्थाओं, संसार या शरीर से स्पर्शित नहीं होता। छोटा ‘c’ उसी बड़े ‘C’ पर उदित होता है और जागृत अवस्था का निर्माण करता है। छोटे ‘c’ की गति ही स्वप्न और सुषुप्ति (गहरी नींद) अवस्थाओं को भी उत्पन्न करती है। बड़ा ‘C’ इन सभी अवस्थाओं का साक्षी है और इनमें से किसी से भी प्रभावित नहीं होता। स्थान (space) और समय (time) केवल छोटे ‘c’ में ही अस्तित्व रखते हैं, बड़े ‘C’ के लिए नहीं।

जागने से पहले चेतना ‘c’ के उदय को हम देख नहीं पाते-यही मूल भ्रांति (प्राथमिक भ्रम) का कारण है कि “हम इस भौतिक संसार में जन्मे हैं।” इसी कारण Bhagavad Gita में Krishna कहते हैं कि “सभी प्राणी मोह (भ्रम) में जन्म लेते हैं।” यही प्राथमिक भ्रम है जिसे तोड़ना आवश्यक है, ताकि ज्ञान मार्ग (ज्ञान योग) में वास्तविक और ठोस आध्यात्मिक प्रगति हो सके।

मानव जन्म का अद्वितीय अवसर यह है कि हमें इस सूक्ष्म ‘c’ (चेतना) की गुप्त उपस्थिति को जानना होगा। इस ‘c’ में स्थिर रहना आसान नहीं है। यह ऐसा नहीं है कि शरीर के भीतर कोई चेतना है, बल्कि शरीर स्वयं इस चेतना के लिए एक वस्तु है। “कागज़ में जो छेद दिखाई देता है, वह कागज़ में होता है, पर कागज़ का नहीं होता।” - निसर्गदत्त महाराज जो चेतना शरीर में प्रकट होती है, वह शरीर में है, पर शरीर की नहीं है!! चेतना का यह रहस्यमय ज्ञान अत्यंत मूल्यवान है और इसके लिए

गहन श्रवण (सुनना) और मनन (चिंतन) की आवश्यकता होती है। यह साधक में ऐसा रूपांतरण ला सकता है, जहाँ शरीर-मन अब इस संसार का विषय (subject) नहीं रहता। बल्कि चेतना (‘C’) ही वह विषय है, जिसमें सभी वस्तुएँ प्रकट होती हैं और विलीन हो जाती हैं। यदि हम शरीर-मन की पहचान से हटकर चेतना के रूप में जीते हैं, तो अनंत आशीर्वाद प्राप्त होते हैं। जो कुछ भी जानना आवश्यक है, वह इसी चेतना में स्वतः घटित होता है।

जय गुरु!

— विश्वनाथन (विशी) शंकरन
vishee.sankaram@gmail.com



पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।

(सिर्फ किताबें पढ़ने से कोई विद्वान नहीं बनता। असली ज्ञान प्रेम और करुणा में है। अगर कोई “प्रेम” को समझ लेता है, वही सच्चा पंडित है।)

— संत कबीर

प्रस्तावना (पूर्वार्म्भ)

“सद्गुरु की शरण में जाओ; उनके वचनों को अपने हृदय में दृढ़ता से धारण करो।
उससे तुम्हारा अज्ञान दूर हो जाएगा, हे प्रिय।” ॥7॥

टीका :

सत्संग के माध्यम से परम सत्य की प्राप्ति होती है; इसलिए सबसे पहले साधक को सद्गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण करना चाहिए। इस समर्पण का स्वरूप आगे विस्तार से बताया जाएगा। सद्गुरु की शरण में जाने के बाद, साधक को सच्चे शास्त्रों और उपनिषदों की शिक्षाओं को श्रद्धा से सुनना चाहिए।

ऐसे श्रवण से मनन (चिंतन) और गहन निदिध्यासन (अंतर में स्थिर होकर ध्यान) उत्पन्न होते हैं। “मैं ब्रह्म हूँ” - इस महावाक्य को ही हृदय में दृढ़ता से धारण करना चाहिए। अपने वास्तविक स्वरूप को न जानना ही अज्ञान है। उस अज्ञान को दूर करने के लिए “मैं ब्रह्म हूँ” की अटल भावना ही ज्ञान कहलाती है। जैसे केवल प्रकाश ही अंधकार को दूर कर सकता है, वैसे ही केवल ज्ञान ही अज्ञान का नाश कर सकता है। इसलिए उसी उपदेश को दृढ़ता से धारण करना आवश्यक है। ॥7॥

एक बार फिर शिष्य ने प्रार्थना की:

“सद्गुरु को कैसे पहचाना जाए? हे दाता, कृपया मुझे यह बताइए।
मुझे उनसे कौन-सा उपदेश प्राप्त करना चाहिए?” ॥8॥

टीका :

इस संसार में अनेक कपटी और भ्रामक मार्ग विद्यमान हैं। इसलिए सच्चे सद्गुरु को

कैसे पहचाना जाए? और चूँकि उपदेश, मंत्र, यंत्र तथा शिक्षण की अनेक विधियाँ हैं, तो सद्गुरु से कौन-सा उपदेश ग्रहण करना चाहिए?

हे दाता - जो अपनी ही सत्य स्वरूप को प्रकट करके प्रदान करते हैं - कृपा करके मुझे यह बताइए। ॥8॥

अब सद्गुरुनाथ अपना उत्तर देते हैं:

“सद्गुरु के लक्षण सुनो: वे ब्रह्मज्ञान से संपन्न होते हैं और उनका आचरण भी शुद्ध होता है; वे कामनाओं से रहित और अहंकार से मुक्त होते हैं - उन्हीं से मुक्ति की प्राप्ति करनी चाहिए।” ॥9॥

टीका :

यहाँ सद्गुरु के लक्षण संक्षेप में बताए गए हैं। सबसे बढ़कर, सच्चा ज्ञान आवश्यक है। यहाँ ज्ञान का अर्थ है अपने ही वास्तविक स्वरूप का ज्ञान; इसे ही ब्रह्मज्ञान कहा जाता है।

वे बाहरी रूप से सक्रिय दिखाई दे सकते हैं, परंतु वह केवल गौण अर्थ में है; वास्तव में उनकी वास्तविक क्रिया शांति, क्षमा और करुणा में निहित होती है। धार्मिक आचार-विचार और अनुष्ठान ही यहाँ बताई गई सच्ची क्रिया नहीं हैं। अथवा इस सक्रिय ज्ञान को उस प्रकाशमय शक्ति के रूप में भी समझा जा सकता है, जो शिष्य के संदेहों और भ्रांतियों को काट देती है। जहाँ यह पाया जाता है, वहीं वास्तव में सद्गुरु होते हैं।

अब उन अन्य शिक्षकों को छोड़कर, जो केवल दूसरों का धन लेने में लगे रहते हैं, सच्चे सद्गुरु के बाहरी लक्षण बताए जाते हैं। वे इच्छारहित होते हैं, क्योंकि अपने वास्तविक स्वरूप के अतिरिक्त उनके लिए कोई अन्य वस्तु अस्तित्व में नहीं होती। फिर ऐसा क्या शेष रह सकता है जो उन्हें प्राप्त न हुआ हो, जिससे कोई इच्छा उत्पन्न हो?

इसलिए ब्रह्मा से लेकर अंतिम जड़ वस्तु तक, उन्हें किसी भी वस्तु की तनिक भी इच्छा नहीं होती। इसका कारण है उनका अहंकार-रहित होना: उनके ज्ञान में “मैं” और “तुम” की धारणाएँ समाप्त हो चुकी हैं। यही उनकी अहंता से मुक्ति है। उनके लिए सब कुछ केवल आत्मा ही है। वे उस निश्चय में स्थित रहते हैं जो अहं-विचार, “मैं” की भावना से रहित है।

ऐसे सद्गुरु से ही मुक्ति की प्राप्ति करनी चाहिए। मंत्र आदि साधनाओं से संबंधित शिक्षाएँ परंपरागत मार्ग की हैं और वे अंतःकरण की शुद्धि के लिए सहायक होती हैं। किन्तु योग्य साधक को इनसे आगे बढ़कर केवल मुक्ति की ही खोज करनी चाहिए।

यदि आप पूछें, “सद्गुरु से मुक्ति किस प्रकार प्राप्त की जाए?” तो सुनिए। आत्मा ही सर्वोच्च आनंद है; वही मुक्ति है। उसकी प्राप्ति ज्ञान के द्वारा होती है। जब मनुष्य यह जान लेता है कि उसका अंतरात्मा ही ब्रह्म है, तब वह अज्ञानरूपी बंधन से मुक्त हो जाता है। यही एकमात्र मुक्ति है जिसकी खोज करनी चाहिए।

सद्गुरु उपदेश के माध्यम से ज्ञान द्वारा मुक्ति प्रदान करते हैं। यह वह मुक्ति नहीं है जिसे सालोक्य, सामीप्य आदि कहा जाता है। ऐसी मुक्ति, जो द्वैत पर आधारित है, केवल उन लोगों के लिए कही गई है जो अभी भी अज्ञान में लिप्त हैं। अतः मुक्ति एक ही है। वह मुक्ति केवल सद्गुरु के पास ही विद्यमान है; इसलिए उसे उन्हीं से प्राप्त करना चाहिए।

मुक्ति को अस्पष्ट या टालने वाले भाव से नहीं खोजना चाहिए, जैसे कि “मुझे मुक्ति कब मिलेगी? मैं कब मुक्त होऊँगा?” इस प्रकार नहीं सोचना चाहिए। बल्कि जब तक शरीर में शक्ति है, तब तक बिना विलंब किए, शीघ्र ही सद्गुरु की शरण में जाकर मुक्ति की खोज करनी चाहिए।

क्योंकि मानव जीवन उतना ही क्षणभंगुर है जितना कि लाल-तप्त लोहे पर गिरकर जल की एक बूँद का विलुप्त हो जाना। इसलिए अत्यंत तत्परता से सद्गुरु से मुक्ति की प्राप्ति करनी चाहिए।

उस मुक्ति की दृढ़ स्थापना के लिए अब शिष्य सद्गुरु से प्रार्थना करता है:

“हे गुरुदेव, मुझे बताइए कि वास्तव में मुक्ति का क्या अर्थ है।
हे करुणा के सागर, हे देवों के देव, मुझे त्यागिए मत।” ॥१०॥

टीका :

शिष्य की प्रार्थना का उत्तर देने के लिए अब गुरु स्वयं मुक्ति के स्वरूप को प्रकट करना आरंभ करते हैं। आगे-पीछे, भीतर और बाहर, नीचे और ऊपर, बाएँ और दाएँ - जहाँ कहीं भी दृष्टि जाती है, वहाँ केवल आत्मा ही विद्यमान है, जो अपने वास्तविक स्वरूप में एकरस और समान है। उसका कहीं कोई सीमा नहीं है, न ही उसका कोई अंत है। इसलिए उस परम सत्य की कोई मर्यादा निर्धारित नहीं की जा सकती, क्योंकि वह

असीम है। आत्मा स्वयं में पूर्ण है - परिपूर्ण, सर्वव्यापी और सम्पूर्ण। (४३)

अब, धीमी समझ वाले साधक पर करुणा करते हुए, जो इस आंतरिक अर्थ को समझना चाहता है, गुरु आगे बारह श्लोकों के माध्यम से 'अन्वय-व्यतिरेक' की पद्धति का उपयोग करते हुए उपदेश देते हैं। इस प्रकार वे आत्मा की अनंतता को हृदय से स्थापित करते हैं। वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप मन की पकड़ से परे है। साथ ही, वे जीवित रहते हुए मुक्ति की अवस्था (जीवनमुक्ति) की भी पुष्टि करते हैं। और शिष्य द्वारा प्रश्न न पूछे जाने पर भी, गुरु अपनी कृपा से उस साधक को सत्यामृत प्रदान करते हैं, जो पहले से ही अमरत्व का अधिकारी है।

ऐसे अनेक उद्देश्यों को हृदय में धारण करके अब गुरु कहते हैं:

“जहाँ मन की उड़ान समाप्त हो जाती है, उससे भी आगे वह व्यापकता असीम रूप से फैली रहती है।

तब मन लौट पड़ता है, उसी मार्ग से वापस आ जाता है, जिससे वह गया था।”

॥४४॥

“जिस-जिस दिशा में वह खोज करने गया, उसी दिशा को वह पीछे छोड़ आया। परंतु प्रयत्नशील साधक उससे आगे बढ़ता रहता है, फिर भी अंत को नहीं पाता।”

॥४५॥

“आठों दिशाओं का अवलोकन करके, वह ऊपर की ओर उच्च मार्ग से उड़ चला; आकाश को भेदकर वह उससे भी आगे चला गया, जहाँ उससे परे कुछ और था।” ॥४६॥

“उसने विशाल शून्य के प्रदेशों को पार किया

और आकाश की असीमता में विचरण किया।

फिर ऊपर की ओर मुख करके उसने 'उस' को देखने का प्रयास किया।” ॥४७॥

“निराधार, सर्वथा भिन्न, पकड़ से परे सूक्ष्म, सभी गति से परे -

उस अचिंत्य का दर्शन करते ही उसकी अपनी क्षमता भीतर ही विलीन हो गई।”

॥४८॥

“तब वह फिर अपने स्थान पर लौटा

और नीचे की ओर, पाताल की गहराइयों में उतर गया,

सातों पाताल लोकों के अंतिम छोर को खोजने के लिए।” ॥४९॥

“परंतु वह गहराई अत्यंत अगाध थी। वह बहुत देर तक गोते लगाता रहा,

परंतु कहीं भी ठहरने का स्थान न पाकर, वह पूर्णतः विस्मित और भ्रमित हो गया।” ॥५०॥

“तब वहाँ से वह फिर ऊपर उठा, उस विशाल विस्तार में। अत्यंत थका हुआ, फिर भी वह आत्मा के वास्तविक स्वरूप का अंत नहीं पा सका।” ॥५१॥

टीका :

अब तक, “जहाँ मन की उड़ान समाप्त हो जाती है” से लेकर “फिर भी वह आत्मा के वास्तविक स्वरूप का अंत नहीं पा सका” तक के इन आठ श्लोकों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा अचिंत्य, असीम, अपरिमेय और आठों दिशाओं में सर्वव्यापी है। यह तथ्य अब दृढ़तापूर्वक स्थापित हो चुका है।

यह भी दिखाया गया है कि आत्मा मन की पकड़ से परे है। मन ने आठों दिशाओं में, ऊपर और नीचे भटककर देख लिया, वह थक गया, फिर भी वह किसी भी प्रकार की सीमा तक नहीं पहुँच सका - चाहे “इतना,” “उतना,” “इतना बड़ा,” “ऐसा,” “वैसा,” या किसी भी अन्य रूप में। इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो गया कि आत्मा मन द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती, जैसा कि शास्त्रों में कहा गया है।

और ज्ञानी के लिए भी यह निश्चय हो जाता है कि आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप में किसी वस्तु के रूप में नहीं जाना जा सकता। आगे, जहाँ कहीं भी जीवनमुक्त का मन जाता है, वहाँ आत्मा के अतिरिक्त कोई रिक्त स्थान नहीं होता। इसलिए मन का चलना या स्थिर रहना जीवनमुक्त के लिए कोई महत्व नहीं रखता।

और उसका निश्चय क्या है? यह है: “मैं ही आत्मा हूँ। मन और अन्य सब कुछ मुझसे संबंधित नहीं हैं, यहाँ तक कि स्वप्न में भी नहीं। मैं, आत्मा, चैतन्य-जीवन का अनंत सागर हूँ। मुझमें यह मन, जो केवल कल्पना से बना है, एक लहर मात्र है। और उस मनरूपी लहर के साथ ही यह समस्त चर-अचर जगत बुलबुलों की तरह उत्पन्न होता है और फिर लीन हो जाता है। चाहे ये समय में उत्पन्न हों या समय में विलीन हो जाएँ, मुझ अनंत के लिए इसमें क्या हानि हो सकती है? और समान रूप से, क्या लाभ हो सकता है?”

अब एक दूसरा दृष्टांत दिया जाता है: “मैं, आत्मा, चैतन्य-आकाश का अनंत विस्तार हूँ। उसमें अज्ञानरूपी माया केवल एक बादल है। उसमें मन केवल बिजली के समान है। काल स्वयं वर्षा का ऋतु है। और यह समस्त चर-अचर जगत केवल

वर्षा का जल है। यह वर्षा हो या न हो - मुझ चैतन्य-आकाश को इससे क्या हानि हो सकती है? और क्या लाभ हो सकता है? वास्तव में मुझे कोई लाभ या हानि स्पर्श नहीं कर सकती।”

इस प्रकार जीवित रहते हुए मुक्ति (जीवनमुक्ति) की अवस्था दृढ़तापूर्वक स्थापित की गई है।

अब, वह साधक जिसकी समझ अभी परिपक्व नहीं है, और जो इस आंतरिक अर्थ को समझना चाहता है, वह इस साधना को कैसे अपनाए? यह अब क्रमशः समझाया जाता है। “मंद बुद्धि” से तात्पर्य उस साधक से है जिसने सत्य को परोक्ष रूप से (परोक्ष ज्ञान) समझ लिया है, परंतु अभी वह प्रत्यक्ष अनुभूति (अपरोक्ष ज्ञान) तक पहुँचाने वाली जिज्ञासा उत्पन्न नहीं कर पाया है। ऐसे साधक के लिए उपयुक्त साधना निदिध्यासन (गहन चिंतन) है।

इन आठ श्लोकों में उपदेश व्यतिरेक (निषेध) की पद्धति से दिया गया है। इसलिए साधक को एकांत स्थान में शांत होकर बैठना चाहिए और उस आधार की ओर ध्यान लगाना चाहिए जो मन का भी आधार है। वहाँ वह उस वास्तविकता का अवलोकन करे जो निराधार और निराकार है। उसका अनुभव कुछ-कुछ आकाश की असीमता के समान होता है।

उस आंतरिक आकाश में मन को स्थिर होने देना चाहिए। अन्य सभी विषयों और कल्पनाओं को विवेक और वैराग्य के द्वारा रोक देना चाहिए। ऐसा करने पर मन उस आंतरिक आकाश में विचरण करने लगता है और धीरे-धीरे उसे अपने स्वाभाविक आनंद का अनुभव होने लगता है। इससे संदेह और विपरीत प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। इसके बाद सच्ची आत्म-विचार की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। तब आत्मा स्वयं को अपने ही स्वरूप में प्रत्यक्ष रूप से जान लेती है।

इस प्रकार इस साधना से विज्ञान-भक्ति (ज्ञानरूपी भक्ति) का उदय होता है। इसलिए साधकों को इस साधना को निष्ठापूर्वक अपनाना चाहिए।

इस प्रकार इन श्लोकों का भावार्थ संक्षेप में समझाया गया। इसे और विस्तार से कहना अनावश्यक रूप से लंबा हो जाएगा। परंतु यह समझ लेना चाहिए कि इसी साधना से सच्चे ज्ञान से उत्पन्न भक्ति का जन्म होता है। इसलिए साधकों को इसे लगनपूर्वक साधना चाहिए। (४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५१)

अब मन की पहुँच समाप्त हो चुकी है। तब कहा जाता है:

“आत्मा के महासागर में भटककर और लौटकर, वह पूर्णतः क्षीण हो गया था।

उसकी अपनी शुद्धता भी क्षीण हो चुकी थी; वह गिर पड़ा,

शक्ति से रहित और चेतना से विहीन।” ॥५२॥

(जिसकी स्पष्टता लुप्त हो गई थी या क्षीण हो चुकी थी।)

टीका :

इस प्रकार आत्मा के महासागर में बहुत दूर तक विचरण करने के बाद भी जब मन को उसका कोई अंत नहीं मिला, तब वह लौट आया। अब उसका सारा प्रयास समाप्त हो चुका था। उसकी शक्ति और स्पष्टता क्षीण हो गई थी, और वह असहाय तथा जड़वत् हो गया। अर्थात् अपनी समस्त कल्पनाओं को त्यागकर वह अपने ही आधार (अधिष्ठान) में स्थित होने लगा।

जैसे तेल-घानी में घूमता हुआ बैल, एक ही चक्र में घूमते-घूमते थककर अंत में वहीं बैठ जाता है जहाँ वह खड़ा होता है, उसी प्रकार यह अवस्था हो जाती है। (५२)

अब उपदेश अन्वय (सकारात्मक प्रतिपादन) की पद्धति से आगे बढ़ता है:

“जिसे वह अपनी ही चेतना की शक्ति से खोजने निकला था,

उसे उसने अपने ही निकट स्थित पाया। तब विस्मित होकर, वह भीतर ही भीतर

स्तब्ध रह गया।” ॥५३॥

टीका :

जिसे वह खोजने निकला था, उसे उसने अपने ही समीप उपस्थित पाया। परंतु जितना वह आगे बढ़ता प्रतीत होता था, उतना ही आत्मा उसके पीछे - सदैव उपस्थित - प्रतीत होती रही। जब तक मन उसे एक वस्तु के रूप में देखने का प्रयास करता रहा, तब तक वह समझ नहीं सका। अंततः उसने देखने के उसी प्रयास को त्याग दिया।

और उसी स्थिरता में उसने पाया कि वह ‘तत्त्व’ सदैव निकट है - वास्तव में सबसे अधिक निकट - वही उसका अपना आधार है। तब वह आश्चर्य से भर गया और विस्मित हो उठा।

उसने भीतर ही भीतर कहा: “हाय! इसी सत्य के लिए मैंने जप, तप, व्रत, नियम, पूजा और ध्यान किए - फिर भी मैं यह नहीं जान पाया कि आत्मा तो सदैव उपस्थित, सदैव निकट ही थी।” फिर उसने कहा, “धन्य है वह करुणामयी सद्गुरु-जननी, जिन्होंने

इतने सरल और प्रत्यक्ष उपाय से मुझे आत्मा का बोध कराया।”

इसके बाद उसका कंठ भाव-विभोर होकर भर आया, शरीर रोमांचित हो उठा और नेत्रों से प्रेमाश्रु बहने लगे। इस प्रकार आध्यात्मिक जागरण के आठ सात्विक भाव प्रकट हुए। (५३)

और फिर वह पुनः आश्चर्य से कहने लगा:

“जिसे इतने लंबे समय तक और इतनी तीव्रता से खोजा गया,
वह सदा ही निकट उपस्थित पाया गया।
जब अपने ही ओर देखने के लिए मुड़ा,
तो वही स्वयं अपना ही स्वरूप निकला।” ॥५४॥

टीका :

अहो! यह कितना अद्भुत है। जिस सत्य को इतने परिश्रम और लगन से खोजा गया था, वह अपने ही अत्यंत निकट, सदैव उपस्थित पाया गया। अर्थात् वह ज्ञान की दृष्टि से जाना गया। परंतु “देखा गया” या “जाना गया” जैसे शब्द अभी भी परोक्ष ज्ञान का संकेत देते हैं। तब प्रत्यक्ष अनुभूति को कैसे व्यक्त किया जाए?

वह इस प्रकार है: जब मनुष्य अपने ही ओर मुड़ा, तब वही सत्य स्वयं अपना ही स्वरूप निकला। जैसे जो सर्प प्रतीत होता है, वह वास्तव में केवल रस्सी ही है; जैसे घड़ा केवल मिट्टी ही है; जैसे आभूषण केवल सोना ही है; और जैसे वस्त्र केवल सूत ही है - उसी प्रकार जो कुछ अपने भीतर जगत के रूप में प्रकट होता है, वह सब केवल ब्रह्म ही है। उसका प्रकट होना भी ब्रह्म है, और आनंद भी ब्रह्म ही है। वास्तव में अपने अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु के लिए कोई पृथक् स्थान है ही नहीं।

वास्तव में, जैसे सर्प, घड़ा, आभूषण और वस्त्र कभी स्वतंत्र अस्तित्व में नहीं आते, जबकि रस्सी, मिट्टी, सोना और सूत स्वयं सिद्ध हैं, उसी प्रकार आत्मा ही पूर्ण और सदा स्थापित है, जबकि मन और अन्य सब कभी वास्तविक रूप से उत्पन्न ही नहीं हुए। इस प्रकार इस साधना के द्वारा साधक प्रत्यक्ष अनुभूति को प्राप्त करता है।

और यह प्राप्ति केवल उसी को होती है जिसमें ऐसी अनुभूति उदित होती है; दूसरों को इसे वास्तव में समझाया नहीं जा सकता। जो पहले कहा गया था, वही अब सत्य सिद्ध होता है: जब भेदभाव समाप्त हो जाता है, तभी अनुभूति होती है। चाहे वह मन और उसके उपाधियों का भेद हो, या साधक और साध्य का भेद - जिस क्षण यह

भिन्नता मिट जाती है, उसी क्षण आत्मा की प्राप्ति होती है। यही प्रत्यक्ष अनुभूति और अद्वैत की पूर्ण शांति है। वास्तव में, हमारा स्वभाव ही ब्रह्म है। (५४)

अब एक दृष्टांत के माध्यम से यह स्पष्ट किया जाता है कि यह अनुभूति केवल उसी की होती है जिसने इसे प्राप्त किया है:

“जैसे नमक पूर्णतः समुद्र में एकरूप हो जाता है, वैसे ही वह आत्मा में लीन हो गया।

उस मिलन से मानो धन का धन से मिलन हो गया।” ॥५५॥

टीका :

पहले रस्सी और सर्प जैसे दृष्टांत दिए गए थे। उसी प्रकार, नमक जब समुद्र में घुल जाता है, तो वह पूर्णतः समुद्र के साथ एकरूप हो जाता है। ठीक वैसे ही, मन अपनी असारता को त्यागकर सत्-चित्-आनंद (अस्ति-भाति-प्रिय) के स्वरूप का हो गया। वह आत्मा के सार के साथ एक हो गया।

यह ऐसा था मानो धन का धन से मिलन हो गया हो। यहाँ “धन” का अर्थ है वास्तविक आध्यात्मिक संपत्ति। असत्य, जड़ और दुःखमय वस्तुओं के साथ अपनी पहचान के कारण, अपने सत्-चित्-आनंद स्वरूप का बोध खोया हुआ प्रतीत होता था। परंतु आत्म-विचार, सद्गुरु की कृपा और सच्चे शास्त्रों के श्रवण के द्वारा वह खोया हुआ खजाना पुनः प्राप्त हो गया। अब सब कुछ पूर्ण हो गया है; पूर्ण मंगलमय अवस्था की प्राप्ति हो चुकी है। (५५)

“ऐसी ही आत्मा की अवस्था है; इसे केवल वे ही वास्तव में जानते हैं जिन्हें प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है।

इस परम सत्य की प्राप्ति सद्गुरु द्वारा प्रदत्त जागरण के माध्यम से होती है।”

॥56॥

टीका :

यह वास्तव में आत्मा की वही अवस्था है जिसका वर्णन इस ग्रंथ में आरंभ से अंत तक किया गया है।

या फिर, इस अवस्था में ऐसा क्या आश्चर्य है? इसका आश्चर्य यह है कि इसी अवस्था के द्वारा परम सत्य अपनी पूर्ण एकाकी स्थिति में प्रतिष्ठित हो जाता है। एक ओर देह-बुद्धि है - “मैं शरीर हूँ”, “यह मेरा संसार है”, सुख-दुःख, पुण्य-पाप और ऐसे सभी भाव। दूसरी ओर ब्रह्म का बोध है, स्वयं आनंद का प्रत्यक्ष अनुभव। मेरे कर्माधीन होने का इससे क्या संबंध? और उस निष्क्रिय, अकर्म स्वरूप से इन कर्मों का क्या संबंध?

अहा! ऐसी अवस्था न तो कर्मकांडों से, न कर्तव्यों से, न योगाभ्यास से, और न ही यज्ञादि से प्राप्त होती है। यह अवस्था मुझे पूज्य सद्गुरु की कृपा से प्राप्त हुई है। ओह, क्या अद्भुत आश्चर्य है! धन्य हैं सद्गुरु, धन्य हैं शास्त्र, धन्य है यह प्राप्ति! अहा, केवल मैं ही हूँ - अन्य कुछ भी नहीं। पूर्णता से परिपूर्ण होकर मैंने स्वयं को स्वयं के द्वारा जाना है। यह वस्तु ब्रह्मा आदि देवताओं के लिए भी उपलब्ध नहीं है। मैं जो हूँ, बस वही हूँ। मुझमें न कभी कोई विकार उत्पन्न हुआ है और न कभी होगा।

अहा! यह संसार, अज्ञान और माया कहाँ चले गए? मुझे अपने अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं देता। वास्तव में, मैं भगवान की खोज में निकला था, और देखो - मैं स्वयं अपने ही स्वरूप में भगवान बन गया हूँ।

और इस अवस्था में और क्या आश्चर्य है? ध्यान किया जाए या न किया जाए, यह अवस्था समान ही रहती है। जो समाधि में है, वही जाग्रत अवस्था में भी है। क्रिया में भी वही अवस्था अपरिवर्तित रहती है। मौन में भी वही है और वाणी में भी वही है। जो स्मरण में है, वही विस्मरण में भी बना रहता है। ओह, कितना अद्भुत है!

आपत्ति: “मान लिया कि यही सत्य अवस्था है - पर इसका प्रमाण क्या है?”

उत्तर: जो प्रत्यक्ष अनुभव में स्थित हैं, वे इसे जानते हैं। सत्य के द्रष्टा - सनकादि ऋषि और अन्य मुनि, वर्तमान के सिद्ध संत और भविष्य में होने वाले ज्ञानी - सभी इसके साक्षी हैं। बल्कि, वास्तव में धन्य हैं वे संत जो इस अवस्था को अपने प्रत्यक्ष अनुभव से जानते हैं।

इसी अवस्था में जीवन्मुक्ति, देहाभाव की स्थिति और सहज अवस्था स्वयं ही प्रकट हो जाती हैं; और इसके आगे ‘नित्य मुक्त होने’ की कल्पना भी नहीं रहती। अतः धन्य है यह आत्मा की अवस्था, और धन्य हैं वे सिद्धजन जो इसे प्रत्यक्ष अनुभव से जानते हैं।

आपत्ति: “आपने इस अवस्था का इतना विस्तार से वर्णन किया। हमने भी आरंभ से

अंत तक सब सुना और समझा। फिर भी यह अवस्था हमारे भीतर क्यों प्रकट नहीं होती?”

उत्तर: यह सत्य केवल सद्गुरु द्वारा प्रदत्त जागरण से ही प्राप्त होता है। यह अवस्था, जो स्वयं ही सत्यस्वरूप है, उसी में प्रकट होती है जिसके हृदय की गहराइयों से गुरु के प्रति भक्ति जागृत होती है। ऐसे साधक के लिए यह केवल सद्गुरु की प्रत्यक्ष कृपा से ही संभव होती है। केवल ग्रंथ पढ़ने से, बिना वैराग्य और बिना गुरु-भक्ति के, यह अनुभूति कभी नहीं हो सकती। इसलिए जो वास्तव में इस अवस्था की कामना करता है, उसे सद्गुरु के चरणों में सेवा करनी चाहिए। गुरु के प्रति भक्ति भीतर की गहराइयों से उत्पन्न हो - यही आवश्यक है। ॥56॥

आपत्ति: “यदि यही वास्तव में आत्मा की अवस्था है, तो उस प्रत्यक्ष अनुभूत होने वाली, अवर्णनीय (अकथनीय) वास्तविकता के स्वरूप को कैसे समझा जाए?”

इस पर आगे कहा गया है:

“ऐसा है आत्मज्ञान; परन्तु इसके भी परे एक पूर्णता स्थित है।

उसका साक्षी स्वयं का मन ही है - क्योंकि वह अवर्णनीय है।” ॥57॥

“जो वास्तव में योग्य शिष्य बन चुका है, जो भीतर से पूर्ण तृप्त हो गया है -

उस आत्मा का मौन आनंद कभी शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।” ॥58॥

“जिसका वास्तव में वर्णन नहीं किया जा सकता, वह केवल उन्हीं को प्राप्त होता है जिन्होंने उसका प्रत्यक्ष अनुभव किया है।

वह सद्गुरु की गहन कृपा से प्राप्त होता है,

उनके अगाध, गूढ़ वचनों के माध्यम से।” ॥59॥

“जब सद्गुरु के वचनों में दृढ़ श्रद्धा स्थापित हो जाती है,

तब संसार-बन्धन की गाँठें कट जाती हैं।

ऐसी सरल और प्रेमपूर्ण भक्ति से रामदास, राम से प्रार्थना करते हैं।” ॥60॥

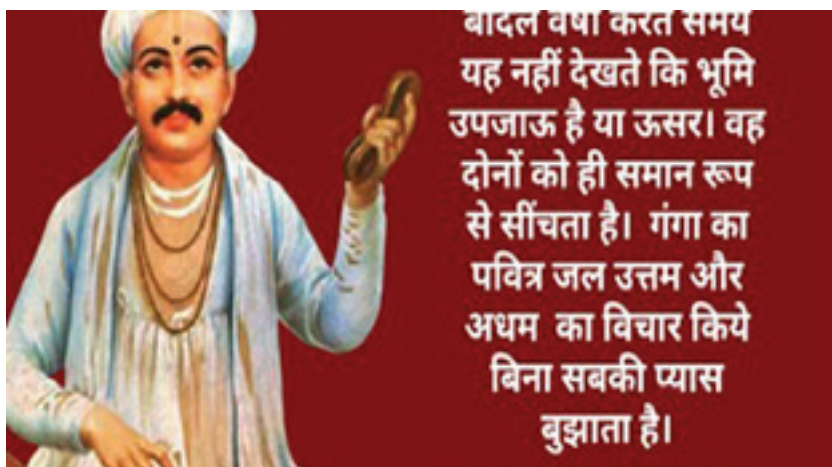
टीका :

अहा, हे प्रश्नकर्ता - जिस अवस्था का वर्णन किया गया है, वास्तव में यह सम्पूर्ण विवेचन आत्मज्ञान ही है। फिर भी परम पूर्णता इससे भी परे स्थित है। शब्द तो कहे जा सकते हैं, पर उनका वास्तविक आशय पूर्णतः व्यक्त नहीं किया जा सकता।

यह वैसा ही है जैसे कोई पूछे, “चीनी कैसी होती है?” तो उत्तर दिया जाता है, “वह मीठी होती है।” पर वह मिठास कैसी है? वह मिठास कुछ अलग ही रहती है, जिसे वास्तव में व्यक्त नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार, ये शब्द कहे जा सकते हैं, पर उनका अनुपम अर्थ वाणी से परे ही रहता है।

वही वास्तविक पूर्णता है, और उसका साक्षी स्वयं का मन ही है। वह अवर्णनीय है। इस प्रकार, शास्त्र और सिद्ध पुरुष जो कहते हैं - कि ब्रह्म वर्णनातीत है - वह यहाँ प्रत्यक्ष अनुभव में सत्य सिद्ध होता है। और इसके लिए केवल अपना ही मन साक्षी होता है। ॥57॥

इस प्रकार ‘पूर्वार्म्भ’ नामक प्रकरण समाप्त होता है।



मैं हूँ। मैं हूँ है मेरा घर

नवविधा आज का संसार अत्यंत अव्यवस्थित है और दिन-प्रतिदिन और भी अधिक अशांत होता जा रहा है। तथाकथित तकनीकी प्रगति ने मन को और अधिक व्यस्त ही बनाया है, जिससे अनुभव की गहराई और जुड़ाव धीरे-धीरे खोते जा रहे हैं। इस निरंतर शोर और भारी वातावरण में, संवेदनशील आत्माओं के पास अपने आंतरिक ब्रह्मांड में शरण लेने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं बचता- और संभव है कि वहीं उन्हें वह अमूल्य खजाना मिल जाए - “मैं हूँ (I AM)”।

मुझे अनिल चुबे के बारे में अपने पिता के माध्यम से पता चला। कुछ समय पहले मुझे “I Am That” की एक मराठी प्रति मिली, जो मुझे लगा कि उन्हें रोचक लगेगी। उन्होंने ही मेरा परिचय अनिल चुबे से कराया और हम एक कॉल के माध्यम से जुड़े। यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई कि उन्होंने मुझे “निसर्गवाणी” के लिए लिखने का सुझाव दिया। मैं लेखक नहीं हूँ - कम बोलने वाला और अंतर्मुखी व्यक्ति हूँ - और आध्यात्मिक विषयों के लिए शब्द वैसे भी बहुत सीमित संकेतक होते हैं। फिर भी आशा है कि मेरी आध्यात्मिक यात्रा आप में से किसी एक के साथ जुड़ाव स्थापित कर सके।

अपने जीवन के अधिकांश समय तक, मैंने स्वयं को बुद्धि और तर्क के साथ ही जोड़ा, और भावनाओं तथा अनुभव की अपेक्षा आलोचनात्मक सोच को अधिक महत्व दिया। विडंबना यह है कि इसी मार्ग से मुझे अद्वैत या गैर-द्वैत में रुचि उत्पन्न हुई। अपने बचपन के दौरान, मैं ईश्वर की पारंपरिक अवधारणा से संघर्ष करता रहा और पूजा-पद्धति पर प्रश्न उठाता रहा, जिससे कई बहसें हुईं और मैं नास्तिकता की ओर झुक गया। अंततः मुझे वह प्रश्न मिला जिसने असीम और अगोचर की ओर द्वार खोल दिया - “क्या जीवन में बस इतना ही है?”

एक्हार्ट टॉले की पुस्तक “हियर एंड नाउ” पढ़ना उन अनगिनत घटनाओं की शुरुआत थी, जैसे डोमिनोज़ एक-एक करके गिरने लगते हैं। यह पुस्तक एक ताज़ी हवा के झोंके जैसी थी-ऐसा लगा जैसे वे बोझ, जिन्हें मैं यह जाने बिना ढो रहा था कि मैं उन्हें ढो रहा हूँ, धीरे-धीरे उतरने लगे। इसके बाद कई रिट्रीट्स हुए, जिनमें गहरे और सार्थक अनुभव मिले। तिब्बती बौद्ध दर्शन और अद्वैत के अध्ययन में मैं और गहराई तक गया - रामण महर्षि, निसर्गदत्त महाराज, जे. कृष्णमूर्ति और अनेक अन्य के माध्यम से।

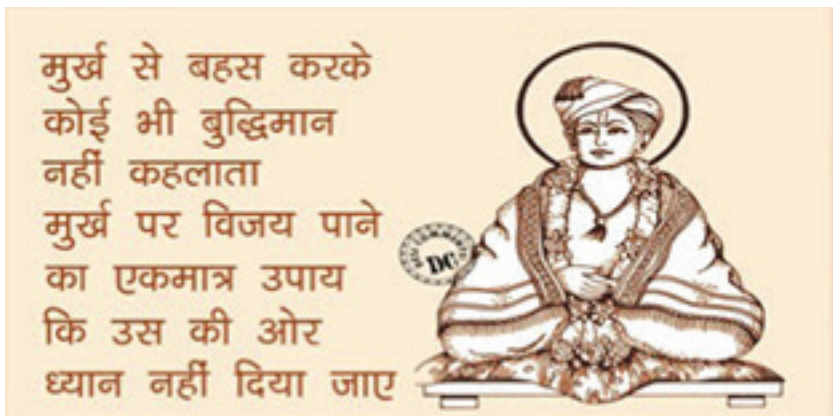
मुझे याद है कि मैंने “इनसाइट ईटो एम्पटीनेस”, “अवेकनिंग चैलेंज”, “डायमंड सूत्र”, “तिब्बतन बुक ऑफ़ द डेड”, “नान येर”, “बी हियर नाउ” जैसी पुस्तकों को बड़े उत्साह से पढ़ा। गहन ध्यान के दौरान तीव्र बेचैनी आती थी, जो धीरे-धीरे “मैं हूँ (I AM)” की झलकियों में परिवर्तित हो जाती थी, और उसके बाद एक “आहा” का अनुभव होता था। यह समझ में आया कि हमारी दृष्टि निरंतर बदलती रहती है - मन बहुत कम समय में उत्साह से सुरक्षा, और फिर भय तक छलांग लगाता है। एक ही तथ्यों के आधार पर अनेक संभावनाएँ और अलग-अलग कहानियाँ बनती रहती हैं। इस बदलती हुई कथाओं के बहुरंगी संसार में खो जाना बहुत आसान है। ऐसे में “मैं हूँ”, श्वास और इंद्रिय-बोध ही एकमात्र स्थिर आधार बन जाते हैं। जितना अधिक हम अभ्यास करते हैं और माया की इस प्रकृति का अवलोकन करते हैं, उतना ही यह आवरण पतला होता जाता है, हमारे बोझ हल्के होते जाते हैं, और हम जीवन के इस नृत्य का आनंद लेने के लिए अधिक स्वतंत्र हो जाते हैं।

हालाँकि, इस समझ के साथ कुछ जोखिम भी आते हैं-जैसे मोहभंग। मन, अपनी पुरानी आदत के अनुसार, इस नई वास्तविकता को पारंपरिक “अच्छे जीवन” के ढाँचे में ढालने की कोशिश करता है और असफल हो जाता है। अनुभव की हमारी धारणा-जो केवल विचारों में ही मौजूद होती है-और वास्तविक अनुभव-जो प्रत्यक्ष, व्यक्तिगत और तत्काल होता है-इन दोनों में बहुत बड़ा अंतर है। पैराशूट से कूदने के बारे में सोचना और वास्तव में विमान से कूदना-ये दो बिल्कुल अलग बातें हैं! महत्वाकांक्षा, सफलता, धन और यहाँ तक कि खुशी भी वह अर्थ नहीं रखते जो समाज उन्हें देता है, जब हम अपनी धारणा को वास्तविक अनुभव से अलग कर देते हैं। तब प्रश्न उठता है-जीवन को कैसे संचालित किया जाए? लेकिन ऐसे प्रश्न मन के पुराने ढाँचे में ही उलझ जाते हैं और चिंता उत्पन्न करते हैं। “मैं हूँ”, श्वास और प्रत्यक्ष अनुभव में स्वयं को स्थिर करना हमें गलत प्रश्नों से दूर ले जाता है और शांति, आनंद तथा प्रेम की

ओर ले जाता है। यह पूरी प्रक्रिया बीजों को सींचने और पौधों को बढ़ते देखने जैसी है-हालाँकि यदि बीज जल्दी अंकुरित न हों, तो हार मान लेना भी आसान होता है।

मैं अभी भी अपनी यात्रा की शुरुआत में ही हूँ-यह समझते हुए कि मैं कुछ नहीं जानता-परंतु हर अनुभव के साथ आगे बढ़ने के लिए उत्सुक हूँ। सत्य यहीं और अभी है, लेकिन उसे वास्तव में देखने के लिए मैं उसे बाध्य नहीं कर सकता। मुझे प्रक्रिया पर विश्वास करना होगा, शिक्षाओं का अनुसरण करना होगा और परत-दर-परत स्वयं को हल्का करना होगा।

– मयूर यादव



आई कलावती का आशीर्वादः एक साधक की यात्रा

॥ ॐ नमः शिवाय ॥

॥ श्री कलावती माता की जय ॥

॥ परम पूज्य गुरुदेवता श्री कलावती माता की जय ॥

मेरे मायके में, जब से मैं बहुत छोटी थी, हमारे घर के पास मोगे नाम का एक परिवार रहता था। उनके घर में प्रतिदिन सुबह और शाम अत्यंत श्रद्धा और भक्ति के साथ श्री कलावती माता की पूजा होती थी।

मोगे काकू माँ के भजन, आरती और बालोपासना (एक छोटी प्रार्थना पुस्तिका) को चुपचाप नहीं, बल्कि स्पष्ट, मधुर और गूंजती हुई आवाज़ में गाया करती थीं। हम चॉल में रहते थे, इसलिए उनके घर से होने वाली भक्ति-पूजा की ध्वनि साफ़-साफ़ हमारे कानों तक पहुँचती थी और पूरे वातावरण को पवित्र बना देती थी।

ऐसे भजन जैसे –

“गुरु माझा मी गुरुंचा,
दास त्यांचा बहुजन्मीचा,
चरणी जडले मन हे माझे,
आता कवणा घालू मी ओझे?”

और “गुरुवाचुनी दैवत नाही” जैसे अनेक भजन उस समय सुनाई देते थे। जब मैं उन भजनों को सुनती थी, तो न जाने क्यों मेरी आँखें अपने आप भर आती थीं और आँसू बहने लगते थे। धीरे-धीरे मेरे मन में उन भजनों और आरतियों के प्रति गहरा प्रेम उत्पन्न हो गया।

मेरी इस रुचि को देखकर मोगे काकू मुझे अक्सर अपने साथ मंदिर ले जाती थीं। मैं भी उनके साथ जाने के लिए उत्सुक रहती थी और हर बार खुशी-खुशी उनके साथ जाती थी। अनजाने में ही मेरा मन भजन और पूजा की ओर आकर्षित होने लगा।

इसके माध्यम से मुझे भीतर गहरी शांति और संतोष का अनुभव होने लगा।

हमारे घर में, सुबह और शाम भगवान के सामने दीप जलाने के अलावा, धार्मिक क्रियाओं में विशेष रुचि नहीं थी। विधिवत पूजा, अनुष्ठान या भक्ति-उपासना हमारे दैनिक जीवन का हिस्सा नहीं थे।

जैसे-जैसे बचपन बीतता गया और समझ बढ़ती गई, मुझे यह अनुभव होने लगा कि मैं वास्तव में बहुत भाग्यशाली हूँ। कलावती आई को गुरु के रूप में पाना एक अत्यंत दुर्लभ सौभाग्य है, और इस दृष्टि से मैं स्वयं को अत्यंत धन्य मानती हूँ। यद्यपि मुझे आई की औपचारिक कृपा विवाह के बाद ही प्राप्त हुई, फिर भी मुझे उनकी सेवा के अनेक अवसर प्राप्त हुए। उनकी सेवा करते समय, और अन्य कई अवसरों पर भी, मुझे अक्सर भीतर से यह अनुभव होता था कि आई मेरे पास ही हैं - यद्यपि वे अब भौतिक रूप में उपस्थित नहीं हैं।

पीछे मुड़कर देखने पर मुझे ऐसा लगता है कि जब से मैंने आई की उपासना शुरू की, तब से जीवन में कभी किसी कमी का अनुभव नहीं हुआ। ऐसा कभी नहीं लगा कि कुछ अधूरा है या कुछ कमी है। एक शांत और सहज संतोष भीतर से स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता रहा।

लंबे समय तक मेरे मन में आई के अनुग्रह को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा थी। परंतु साथ ही यह प्रश्न भी उठता था कि यह कैसे होगा और क्या मैं कभी इसके योग्य बन पाऊँगी। किंतु अपनी सहज और करुणामयी रीति से आई ने स्वयं ही इस प्रश्न का समाधान कर दिया।

विवाह के कुछ वर्षों बाद हम ठाणे से डोंबिवली के रेसिडेंशियल एरिया में आ गए। उस समय मैं डी.एन.सी. स्कूल के पास स्थित मंदिर में नियमित रूप से पूजा के लिए जाया करती थी। एक दिन मंदिर में घोषणा हुई कि जो लोग अनुग्रह लेना चाहते हैं, वे अपने नाम दर्ज कराएँ।

कुछ समय बाद हम सात बहनों को इस पवित्र अवसर के लिए बेलगांव भेजा गया। आई की कृपा से मुझे वर्ष 2002 में महाशिवरात्रि के पावन अवसर पर बेलगांव के हरि मंदिर में अनुग्रह प्राप्त करने का सौभाग्य मिला।

परम पूज्य आई ने प्रार्थना का महत्व इतने सुंदर और प्रभावशाली ढंग से समझाया कि अब यदि मैं सुबह की पूजा न करूँ, तो मन को शांति नहीं मिलती। आई की शिक्षाएँ अत्यंत गहन और व्यापक हैं। उनके माध्यम से मैंने अनेक जीवन-मूल्यों को अपनाया और धीरे-धीरे उनके गूढ़ अर्थ को समझना प्रारंभ किया।

सरल शब्दों में कहें तो प्रार्थना करना प्रत्येक मनुष्य का पवित्र कर्तव्य है। इसे नियमित रूप से और प्रेमपूर्वक करना चाहिए। यह सांसारिक या स्वर्गीय सुखों की इच्छा से प्रेरित नहीं होना चाहिए। प्रार्थना का एकमात्र उद्देश्य भगवान से एकरूप होना है। इसमें बाहरी रूप से अधिक महत्व अंतःकरण की भावना का है। जब प्रार्थना हृदय की गहराई से उठती है, तभी वह वास्तव में भगवान तक पहुँचती है।

भव-रोग (संसार रूपी दुख) से मुक्त होने के लिए जीवन में आवश्यक अनुशासन का पालन करना चाहिए। अपनी गलतियों को विनम्रता से भगवान के सामने स्वीकार करना चाहिए। आहार और आचरण में नियमितता और संयम होना चाहिए। किसी के संवेदनशील दोषों को छूकर उसे आहत नहीं करना चाहिए और दोषारोपण से बचना चाहिए। आज का कार्य आज ही करना चाहिए, उसे कल पर नहीं टालना चाहिए। चुगली, षड्यंत्र और विवादों से दूर रहना चाहिए। आलस्य को जीवन में स्थान नहीं देना चाहिए और समय को व्यर्थ बातों में नष्ट नहीं करना चाहिए। मन में नकारात्मक या हानिकारक विचारों को स्थान नहीं देना चाहिए।

साथ ही, प्रत्येक व्यक्ति को निस्वार्थ भाव से कुछ न कुछ सेवा अवश्य करनी चाहिए, बिना किसी फल की अपेक्षा के। भगवान, गुरु और संतों के समक्ष सदैव सत्य बोलना चाहिए और विनम्र बने रहना चाहिए। नियमित प्रार्थना से मन के नकारात्मक संस्कार धीरे-धीरे समाप्त हो जाते हैं। यह पूर्व के पापों को शुद्ध करती है, बुरी आदतों को दूर करती है और हृदय में सद्गुणों का विकास करती है।

ऐसी प्रार्थना से पुण्य संचय बढ़ता है। धीरे-धीरे मनुष्य अपनी निम्न, पशुवत प्रवृत्तियों से ऊपर उठकर सच्चे मानव जीवन की गरिमा को धारण करता है। हृदय एक स्वच्छ दर्पण की भाँति निर्मल हो जाता है। ऐसी अवस्था में, कठिन परिस्थितियों के बीच भी मन की स्थिरता और संतुलन बना रहता है।

संसार में सुख और दुःख आते-जाते रहते हैं। किंतु गुरु भक्ति के माध्यम से हमें उन्हें धैर्यपूर्वक सहने की शक्ति मिलती है। गुरु की कृपा से आने वाले कष्टों की तीव्रता भी कम हो जाती है।

सच्ची उपासना से मन के भ्रम धीरे-धीरे दूर हो जाते हैं। ऐसी भक्ति के द्वारा आत्मा का तेजस्वी आंतरिक सूर्य प्रकट होता है।

॥ श्री सद्गुरुनाथ महाराज की जय ॥

— श्रीमती श्यामल विष्णु यादव, ठाणे, महाराष्ट्र

स्वतंत्रता संग्राम सेनानी इंचगेरी के संत श्री माधवानंद प्रभुजी

जब निसर्गदत्त महाराज 1970 के दशक में व्यापक रूप से प्रसिद्ध हुए, तो उनके जीवन-शैली को देखकर बहुत से लोग आश्चर्यचकित रह गए। वे मुंबई में एक गृहस्थ के रूप में रहते थे, बीड़ी पीते थे और कभी-कभी तीव्र क्रोध भी प्रकट करते थे। ये गुण इस सामान्य धारणा को चुनौती देते थे कि एक आध्यात्मिक गुरु कैसा होना चाहिए। श्री माधवानंद प्रभुजी का जीवन भी इसी प्रकार के प्रश्न उठाता है। वे निसर्गदत्त के समकालीन और उनके गुरु-परिवार से संबंधित थे। वे उसी नवनाथ इंचगेरी परंपरा से, श्री भाऊसाहेब महाराज और फिर श्री गिरिमल्लेश्वर महाराज के माध्यम से जुड़े थे।

प्रभुजी एक ब्रह्मचारी थे, जो निरंतर ध्यानमग्न अवस्था में रहते थे, फिर भी उन्होंने साहसपूर्वक जन-आंदोलनों का संगठन किया और स्वतंत्रता संग्राम के दौरान बार-बार कारावास का सामना किया।

मैंने पहली बार प्रभुजी की कथा हाल ही में इंचगेरी की यात्रा के दौरान सुनी, जहाँ मठ की दीवार पर लगी उनकी पूर्ण-आकार की एक चित्रकला ने मेरी जिज्ञासा को जागृत किया। जो एक संक्षिप्त जिज्ञासा के रूप में आरंभ हुआ, वह धीरे-धीरे कन्नड़, मराठी और अंग्रेज़ी स्रोतों के आधार पर उनके जीवन को पुनर्निर्मित करने के प्रयास में परिवर्तित हो गया।

अनेक अर्ध-लोककथात्मक व्यक्तित्वों की भाँति, उनके जीवन के तथ्य भक्ति-प्रधान वर्णनों में कभी-कभी बढ़ा-चढ़ाकर या सूक्ष्म रूप से परिवर्तित होकर प्रस्तुत किए जा सकते हैं। अतः जहाँ संभव हो, निम्नलिखित विवरण में प्रमाणित घटनाओं और पारंपरिक कथाओं के बीच भेद किया गया है।

प्रारंभिक जीवन

माधवानंद प्रभुजी का जन्म 2 नवम्बर 1915 को कर्नाटक के हुब्बल्ली में महादेवप्पा मुरुगोड के रूप में हुआ। वे शिवप्पा मुरुगोड और कलम्मा के दूसरे पुत्र थे। उनके पिता, जिन्हें वंश-परंपरा के आचार्य शिवप्रभु महाराज के नाम से भी जाना जाता था, श्री गिरिमल्लेश्वर महाराज के शिष्य थे। इस कारण महादेवप्पा का प्रारंभ से ही एक आध्यात्मिक गुरु के सान्निध्य और अनुशासित साधना से गहरा संबंध स्थापित हो गया था।

विभिन्न विवरणों से संकेत मिलता है कि उन्होंने अत्यंत कम आयु में ही आध्यात्मिक परिपक्वता प्राप्त कर ली थी। कई कथाओं में वर्णित है कि उन्होंने तीन से आठ वर्ष की आयु के बीच गुरु-मंत्र प्राप्त किया - जो किसी साधक के लिए असाधारण रूप से प्रारंभिक आयु मानी जाती है।

यद्यपि सटीक आयु स्पष्ट नहीं है, परंतु उनके बचपन की विशेषता एक गहरी आंतरिक प्रवृत्ति थी, जिसने उन्हें पारंपरिक शिक्षा से विमुख कर दिया। जीवन-निर्वाह के लिए मिलने वाली शिक्षा की तुलना में ध्यानयोग - अर्थात् आत्मज्ञान की साधना - ही उनके लिए अधिक आकर्षक थी।

प्रारंभ में यह आंतरिक आकर्षण उन्हें विद्यालय की रातों में घर से निकलकर श्मशान में ध्यान करने के लिए प्रेरित करता था। शीघ्र ही यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल हो गई कि उन्होंने लगभग चौथी कक्षा (लगभग 10 वर्ष की आयु) के आसपास विद्यालय छोड़ दिया और अपने गुरु के निर्देशानुसार गुफाओं, स्वयं निर्मित पत्तों की कुटियों या श्री गुरुलिंगजंगम महाराज की समाधि के समीप एकांत साधना में प्रवृत्त हो गए।

परंपरा में प्रचलित एक कथा उनके अनुशासन और समाज द्वारा उसकी प्रारंभिक पहचान - दोनों को दर्शाती है। हुब्बल्ली से इंचागिरी की पदयात्रा के दौरान, श्री गिरिमल्लेश्वर महाराज ने अपने शिष्यों को निर्देश दिया कि वे प्रत्येक श्वास के साथ गुरु-मंत्र का निरंतर स्मरण बनाए रखें।

कई दिनों के बाद, उन्होंने उन लोगों से खड़े होने को कहा जिन्होंने इस निर्देश का पूर्णतः पालन किया था। केवल बारह वर्षीय महादेवप्पा ही खड़े हुए। उनकी इस अडिग एकाग्रता को देखकर कहा जाता है कि गुरु ने उन्हें “ईश्वर का सच्चा स्वरूप” कहा। उसी समय से लोग उन्हें “देवरु” (अर्थात् “दिव्य पुरुष”) कहकर संबोधित करने लगे।

एक स्रोत के अनुसार, कठोर तपस्या और एकांत साधना की अवधि के बाद

उन्होंने चौदह वर्ष की आयु में आत्म-साक्षात्कार प्राप्त किया। अन्य विवरण उन्हें बाल्यावस्था से ही आत्मज्ञानी या “अवतारी पुरुष” के रूप में वर्णित करते हैं। यद्यपि सटीक समय निश्चित नहीं है, अधिकांश विवरण इस बात पर सहमत हैं कि उनकी आध्यात्मिक परिपक्वता की ख्याति बहुत कम आयु में ही प्रकट हो गई थी।

चाहे इन कथाओं को प्रतीकात्मक रूप में समझा जाए या वास्तविक रूप में, वे इस बात को दर्शाती हैं कि महादेवप्पा को बहुत प्रारंभ से ही केवल भक्तिमय नहीं, बल्कि अपनी आयु से कहीं अधिक आंतरिक रूप से परिपक्व माना जाता था।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में भूमिका

माधवानंद प्रभुजी की राजनीतिक जागरूकता भारत के तीव्र होते स्वतंत्रता संग्राम के साथ विकसित हुई। 26 जनवरी 1930 को पूर्ण स्वराज की घोषणा और सविनय अवज्ञा आंदोलन के आरंभ के बाद, पूरे देश में प्रतिरोध की लहर फैल गई।

इसी काल में, मात्र चौदह वर्ष की आयु में, प्रभुजी पहली बार इंचगेरी के धार्मिक वातावरण वाले गाँव में राजनीतिक रूप से सक्रिय हुए।

आने वाले वर्षों में उनके गुरु के स्पष्ट आशीर्वाद से उनकी राजनीतिक सक्रियता और गहरी होती गई। 1930 के दशक के अंत तक उन्होंने कर्नाटक और महाराष्ट्र से हजारों लोगों को संगठित कर 1938 में हरिपुरा में आयोजित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लेने के लिए प्रेरित किया।

एक विवरण के अनुसार, कांग्रेस के तीसरे दिन प्रभुजी खड़े हुए और उन्होंने भाषण देते हुए घोषणा की-“स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है; धार्मिक स्वतंत्रता केवल राजनीतिक स्वतंत्रता के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती है।”

उनकी यह घोषणा विशेष रूप से उल्लेखनीय थी, क्योंकि उस समय वे केवल बीस वर्ष के आसपास के एक संन्यासी थे।

इस कार्य के माध्यम से प्रभुजी का संपर्क सुभाष चंद्र बोस और महात्मा गांधी जैसे नेताओं से हुआ। उनके कार्य से प्रभावित होकर बोस ने हुब्लली स्थित इंचागेरी परंपरा के आश्रम में उनसे गुप्त रूप से भेंट की। गांधीजी की अनुमति से, प्रभुजी ने 1941 में इंचागेरी और आसपास के गाँवों में शांतिपूर्ण जन-आंदोलनों की शुरुआत की, जिसके परिणामस्वरूप उनकी पहली गिरफ्तारी हुई।

1942 के ‘भारत छोड़ो’ आंदोलन के तीव्र होने के बाद, उनके समूह - जिसमें

हजारों स्त्री-पुरुष शामिल थे - का प्रतिरोध अधिक उग्र रूप ले गया। उन्होंने ब्रिटिश शासन की संरचना को कमजोर करने के लिए रेलवे स्टेशनों को नष्ट किया, स्थानीय पुलिस थानों को लूटा और जलाया, मालगाड़ियों को पटरी से उतारा, टेलीग्राफ की तारें काटीं और बड़े सरकारी खजानों को अपने कब्जे में लिया।

विशेष रूप से उल्लेखनीय यह है कि आत्मरक्षा के लिए कोटालगी और सोन्याल में दो हथियार निर्माण केंद्र स्थापित किए जाने के बावजूद, उनका समूह लगातार इस बात के प्रति प्रतिबद्ध रहा कि मानवीय क्षति को यथासंभव कम से कम रखा जाए।

ऐसे कार्यों के परिणामस्वरूप अंततः उन्हें बार-बार गिरफ्तार किया गया। कहा जाता है कि अपने जीवनकाल में प्रभुजी को सत्ताईस बार कारावास हुआ। वे जेल को “गुरु का घर और भगवान का मंदिर” कहा करते थे और उसे निरंतर ध्यान के लिए एक अवसर के रूप में स्वीकार करते थे। कारावास के दौरान भी उन्होंने गुप्त रूप से अपना नेतृत्व जारी रखा, और कहा जाता है कि इस अवधि में कई जेल अधिकारी उनके शिष्य बन गए।

यह तथ्य कि एक ब्रह्मचारी आध्यात्मिक शिक्षक का संबंध तोड़फोड़ और प्रतिरोध से भी रहा, आश्चर्यजनक प्रतीत हो सकता है। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उनका नैतिक मार्गदर्शन और नेतृत्व उस सर्वोच्च कल्याण के प्रति उनके समर्पण का परिणाम था, जिसे वे सत्य मानते थे।

स्वतंत्रता के बाद का सामाजिक एवं राजनीतिक कार्य

1947 में भारत की स्वतंत्रता के बाद भी प्रभुजी की सक्रियता समाप्त नहीं हुई। ब्रिटिश शासन के अंत के बावजूद, उपमहाद्वीप सैकड़ों रियासतों में राजनीतिक रूप से विभाजित रहा। प्रभुजी ने “देश सेवा ही ईश्वर सेवा है” के नारे के साथ युवाओं को संगठित किया और एक अधिक एकीकृत राष्ट्र के लिए अभियान चलाया। उन्होंने हैदराबाद रियासत के विलय का समर्थन किया, गोवा में पुर्तगाली शासन का विरोध किया और कर्नाटक के एकीकरण के लिए सक्रिय रूप से कार्य किया।

ऐसे कार्यों में जोखिम अत्यधिक थे - हैदराबाद आंदोलन के दौरान उनके समूह के कई सदस्य गोली का शिकार हुए, गोवा में स्वयं प्रभुजी को अधिकारियों द्वारा पीटा गया, और कर्नाटक एकीकरण आंदोलन के दौरान उन्होंने 21 दिनों का “आमरण अनशन” भी किया।

स्वतंत्रता के बाद की राजनीति में बढ़ते भ्रष्टाचार और स्वार्थ से निराश होकर, प्रभुजी ने लोक सेवक संघ पार्टी की स्थापना की, ताकि वे अपने दृष्टिकोण से निम्नस्तरीय शासन का विरोध कर सकें और उसे चुनौती दे सकें।

1964 में उन्होंने विनोबा भावे से प्रेरित 'सर्वोदय भूदान आंदोलन' में भी भाग लिया और सार्वभौमिक कल्याण के नाम पर भूमि के पुनर्वितरण के लिए अभियान चलाया। वे गाँव-गाँव पैदल यात्रा करते हुए लोगों को जागरूक करते रहे, और उनके समूह ने भूमिहीन ग्रामीणों के लिए हजारों एकड़ बंजर भूमि उपलब्ध कराने में सहायता की।

उनकी कार्यप्रणाली की कठोरता को दर्शाने वाली एक प्रचलित घटना भी उल्लेखनीय है। एक विवरण के अनुसार, उनके समूह ने एक स्थानीय जमींदार उमरानी को रोककर उससे अपनी अधिकांश भूमि दान में देने के लिए दबाव डाला। कहा जाता है कि उसे केवल सूखा और अत्यधिक मसालेदार भोजन दिया गया, जब तक कि उसने सहमति नहीं दी। भक्तों द्वारा अक्सर उद्धृत यह कथा दर्शाती है कि प्रभुजी ने सर्वोदय भूदान आंदोलन के आदर्शों को किस दृढ़ता और तीव्रता के साथ अपनाया।

इंचगेरी में उनके दृष्टिकोण का कार्यान्वयन

यद्यपि वे अपने राजनीतिक प्रतिरोध के लिए प्रसिद्ध थे, माधवानंद प्रभुजी एक मठाधीश के रूप में अनुष्ठानों, शिक्षण और समुदाय के आध्यात्मिक जीवन की धुरी बने रहे। उनका दैनिक जीवन अत्यंत अनुशासित था - वे प्रतिदिन चार बार भजन (भक्ति-गायन) का नेतृत्व करते, प्रवचन देते, तीन घंटे ध्यान करते, आंगंतुकों से मिलते, मठ के कार्यों का संचालन करते और प्रत्येक श्वास के साथ पवित्र मंत्र का निरंतर जप बनाए रखते थे।

वर्ष में तीन बार वे सप्ताह-भर चलने वाले 'सप्ताह' जैसे गहन आध्यात्मिक आयोजनों का नेतृत्व भी करते थे, जिनमें हजारों लोग भाग लेते थे। इन आयोजनों में प्रार्थना, प्रवचन और सामूहिक भोजन का आयोजन होता था, जिससे भक्तों के साथ-साथ गरीबों का भी पोषण होता था।

फिर भी, उन्होंने अपने पारंपरिक मठीय दायित्वों में आधुनिक विचारों का समावेश किया। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान नासिक में कारावास के समय उनका परिचय समाजवादी चिंतकों, जैसे एस. ए. डांगे से हुआ, जिनके समानता के विचारों

ने उन पर गहरा प्रभाव डाला।

साम्यवाद और विनोबा भावे के सर्वोदय सिद्धांतों से प्रेरणा लेकर, 1967 के बाद उनके नेतृत्व में मठ में सामूहिक स्वामित्व और भूमि पुनरुत्थान (land regeneration) की व्यवस्था लागू की गई।

12वीं शताब्दी के संत बसवन्ना के सिद्धांतों के आधार पर, उनकी समानता की दृष्टि जाति और धर्म दोनों से परे विस्तृत थी। अपने जीवनकाल में उन्होंने मठ में 25,000 से अधिक अंतर-जातीय और अंतर-धार्मिक विवाह संपन्न कराए, जिनमें लिंगायत, दलित, ब्राह्मण, मुस्लिम, ईसाई और अन्य समुदायों के लोग शामिल थे।

स्वाभाविक रूप से, इस कार्य के कारण उन्हें आलोचना और विरोध का सामना करना पड़ा। इसके उत्तर में प्रभुजी ने अपनी ही भतीजी (पोती-समान), कलम्मादेवी, का विवाह एक मुस्लिम युवक से कराकर अपने सिद्धांतों को व्यवहार में सिद्ध किया।

उनके अन्य प्रयासों में विधवा और देवदासी विवाह को प्रोत्साहन देना, बेघर लोगों को आश्रय प्रदान करना, अंधविश्वास के विरुद्ध अभियान चलाना, मद्यपान का विरोध करना और गौ-हत्या पर प्रतिबंध के लिए प्रयास करना शामिल थे।

ऐसे प्रयासों के कारण अरुण गांधी, जो महात्मा गांधी के पौत्र थे, इंचागेरी आए। उन्होंने वहाँ के कृषि विकास और समानतावादी सामुदायिक जीवनशैली का अवलोकन किया। अपने इंप्रिंट समाचारपत्र में इंचगेरी के बारे में उन्होंने लिखा -

“जबकि भारत का शेष भाग जाति और धर्म के अंधकार में ढका हुआ है, हमें आशा करनी चाहिए कि राष्ट्रीय जीवन के ऐसे साहसी प्रयोग न केवल जीवित रहें और विकसित हों, बल्कि शीघ्र ही हर जगह फैलें।”

माधवानंद प्रभुजी का व्यक्तित्व

उनके कार्य और उपलब्धियाँ उनके व्यक्तित्व का केवल एक पक्ष ही दर्शाती हैं। असाधारण दृढ़ता और परिस्थितियों को अपने उद्देश्य की ओर मोड़ने की क्षमता के बावजूद, विवरणों में उन्हें व्यक्तिगत रूप से अत्यंत सादगीपूर्ण और प्रशंसा से दूर रहने वाला बताया गया है।

जब उनकी स्तुति में महामंगलआरती गाई जाती थी, तो वे भक्तों को डाँट देते थे। जब कोई उनके चरणों में झुकने का प्रयास करता, तो वे उसे “जाओ और ध्यान करो” कहकर रोकते थे। उन्होंने “समर्थ सद्गुरु” जैसे उपाधियों को स्वीकार करने से इनकार

कर दिया, संन्यासी के केसरिया वस्त्र पहनने से भी इंकार किया, शोभायात्राओं में पालकी पर बैठने से मना किया, यहाँ तक कि अपना चित्र खिंचवाना भी स्वीकार नहीं किया। वे केवल स्थानीय खादी वस्त्र पहनते थे - कभी-कभी फटे हुए और स्वयं कुओं तथा शौचालयों की सफाई करते, खेतों में श्रम करते या चरखा चलाते थे। स्वतंत्रता के बाद उन्होंने स्वतंत्रता सेनानियों को दी जाने वाली सरकारी पेंशन भी अस्वीकार कर दी।

एक आध्यात्मिक शिक्षक के रूप में, उनके प्रवचनों का स्वर शांत, गंभीर और साथ ही अत्यंत आकर्षक बताया जाता है, जो श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देता था। वे सरल शब्दों और उदाहरणों के माध्यम से *दासबोध* और *मनाचे श्लोक* जैसे ग्रंथों में निहित जटिल वेदांतिक सिद्धांतों को इस प्रकार समझाते थे कि वे अशिक्षित जनसमूह तक भी सहजता से पहुँच जाते थे।

अनेक अनुयायियों के लिए, उनकी यही सरलता इस विश्वास को और दृढ़ करती थी कि उनमें असाधारण आध्यात्मिक गहराई विद्यमान थी। युवावस्था में श्री गिरिमल्लेश्वर महाराज द्वारा की गई उस घोषणा के बाद से, भक्त उन्हें प्रायः “चलते-फिरते भगवान” कहकर संबोधित करते थे, उनके निरंतर ध्यानमग्न रहने और सभी के प्रति करुणा को इसका आधार मानते हुए।

एक कथा के अनुसार, जब कुछ चोर मठ से चोरी करते हुए पकड़े गए, तो प्रभुजी ने आदेश दिया कि उन्हें न तो पीटा जाए और न ही जेल भेजा जाए, बल्कि पंद्रह दिनों तक उनसे काम कराया जाए - इस प्रकार दंड को अनुशासन और सुधार में परिवर्तित कर दिया गया।

उनके पिता, शिवप्रभु महाराज, भी उनके प्रति असाधारण श्रद्धा रखते थे। एक विवरण में वर्णित है कि उन्होंने स्वयं देखा कि बालक महादेवप्पा श्मशान में ध्यानमग्न बैठे हैं और उनके गले में एक सर्प लिपटा हुआ है - इस घटना ने उनके विश्वास को और दृढ़ कर दिया कि उनके पुत्र में असाधारण आध्यात्मिक सामर्थ्य है। बाद के वर्षों में उन्होंने भक्तों को आश्चर्यचकित करते हुए प्रभुजी के चरणों की धूल अपने मस्तक पर लगाई।

यद्यपि प्रभुजी ने औपचारिक रूप से 1967 में अपने पिता के निधन के बाद ही मठाध्यक्ष का पद संभाला, उससे कई दशक पहले ही उनके पिता उन्हें ही वास्तविक अधिकार मानते थे और मठ के संचालन में उनके निर्देशों का पालन करते थे। यदि कोई पूछता, तो वे केवल इतना कहते - “मैं जानता हूँ कि वे क्या हैं।”

“चलते-फिरते भगवान” की उनकी प्रतिष्ठा के अनुरूप, भक्तों के बीच अनेक चमत्कार कथाएँ भी प्रचलित थीं। इनमें यह विश्वास शामिल था कि वे गोलियों से बच सकते थे, ब्रिटिश तलाशी से बचने के लिए छिपे हुए हथियारों को फल में परिवर्तित कर सकते थे, न्यायाधीशों को प्रभावित कर सजा कम करवा सकते थे, या अपनी आध्यात्मिक शक्ति से घायल लोगों को पुनर्जीवित कर सकते थे। इन कथाओं को यहाँ ऐतिहासिक प्रमाण के रूप में नहीं, बल्कि इस बात के संकेत के रूप में प्रस्तुत किया गया है कि उनके आसपास रहने वाले लोग उन्हें कितना असाधारण मानते थे।

निधन और विरासत

माधवानंद प्रभुजी का मानवता की सेवा में समर्पित जीवन निरंतर यात्राओं, अनियमित भोजन और अत्यल्प विश्राम से भरा हुआ था। समय के साथ उनका शरीर थकने लगा, फिर भी उन्होंने अपने कार्य को कभी विराम नहीं दिया। 25 मई 1980 को, एक सप्ताह (आध्यात्मिक उत्सव) से लौटते समय, उन्होंने हुब्बल्ली में देह त्याग किया।

उनके कार्यों के बीज आज भी फल दे रहे हैं - उनके द्वारा स्थापित तीन विद्यालयों में, ज्ञानयोग (आत्मज्ञान के मार्ग) के अनेक आश्रमों में, और इंचागेरी की उस जीवंत समुदाय में, जो आज भी उनके सामूहिक स्वामित्व के प्रयोग को आगे बढ़ा रहा है। उनके योगदान के सम्मान में कर्नाटक सरकार ने 2006 में उन्हें मरणोपरांत “सुवर्ण कर्नाटक राज्योत्सव पुरस्कार” से सम्मानित किया।

उनकी उपस्थिति सूक्ष्म रूपों में भी आज विद्यमान है - यूट्यूब पर उपलब्ध सैकड़ों आध्यात्मिक प्रवचनों में, इंचागेरी के उनके 80 फुट ऊँचे समाधि मंदिर में प्रतिदिन गाए जाने वाले भजनों में, उनके जीवन पर आधारित फिल्म *क्रांतियोगी महादेवरु* में, और उन हजारों भक्तों के लॉकेटों व गृह-वेदी में, जिनकी भक्ति आज भी अविराम है।

एक ऐसे युग में, जहाँ प्रायः संतत्व और क्रांति के बीच चुनाव करना आवश्यक समझा जाता था, प्रभुजी ने इस भेद को स्वीकार नहीं किया। उनके लिए सर्वोच्च उत्थान आध्यात्मिक और राजनीतिक - दोनों प्रकार की मुक्ति में निहित था। वे कहा करते थे - “जय जगत” - सम्पूर्ण विश्व का कल्याण हो।

– Ilkin Mengusoglu
University College, London

संदर्भ:

1. मलागोंड टी.के., सावलु ए. *इंचागेरी आध्यात्म संप्रदायदा: क्रांतियोगी सद्गुरुगुलु: इतिहास और उपलब्धियाँ* [कन्नड़]। हुब्बल्ली: एस. वी. प्रिंट्स; 2023।
2. बुराडे एस.डी.एम. *अमृत धारा* [मराठी]। इंचगेरी: श्री गिरिश प्रकाशन; 1992।
3. भंडारे एस.एन.बी. *इंचगिरी संप्रदाय दिव्य परंपरा*, द्वितीय संस्करण [मराठी]। तेंभुर्णी, सोलापुर: डायमंड प्रिंटर्स; 2021।
4. प्रकाश ओ.एस. (निर्देशक); शेगुनासी एम. (लेखक)। *क्रांतियोगी महादेवरु* [कन्नड़]। हुब्बल्ली, कर्नाटक: श्री गिरिमल्लेश्वर फिल्मस; 2018। अवधि: 188 मिनट।
5. रेवणसिद्धेश्वर महाराज। मौखिक संवाद। प्रमुख, इंचगेरी मठ, श्री क्षेत्र इंचगेरी मठ; 2026।
6. अरली वी. मौखिक संवाद। माधवानंद प्रभुजी के भक्त, श्री क्षेत्र इंचगेरी मठ; 2026।
7. हसिलकर एम. मौखिक संवाद। माधवानंद प्रभुजी के भक्त, श्री क्षेत्र इंचगेरी मठ; 2026।
8. पूर्ण स्वराज प्रस्ताव। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका [इंटरनेट]। उपलब्ध: <https://www.britannica.com/topic/Purna-Swaraj-resolution> (प्रवेश तिथि: 13 मार्च 2026)।
9. जंगवाड एम.पी., नंदना जी.बी. *इंचगेरी मठ के समर्थ सद्गुरु माधवानंद प्रभुजी की भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में भूमिका*। इंडियन स्ट्रीम्स रिसर्च जर्नल। 2015; 5(5)। उपलब्ध: <https://oldisrj.lbp.world/UploadedData/6713.pdf>
10. कंपुनावर एस. व्यक्तिगत संवाद। संवाददाता, विजयपुरा; 2026।
11. हिरेमठ जी. मौखिक संवाद। भक्त, श्री क्षेत्र इंचगेरी मठ; 2026।

